शिक्षण प्रक्रिया में सर्वांगपूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता

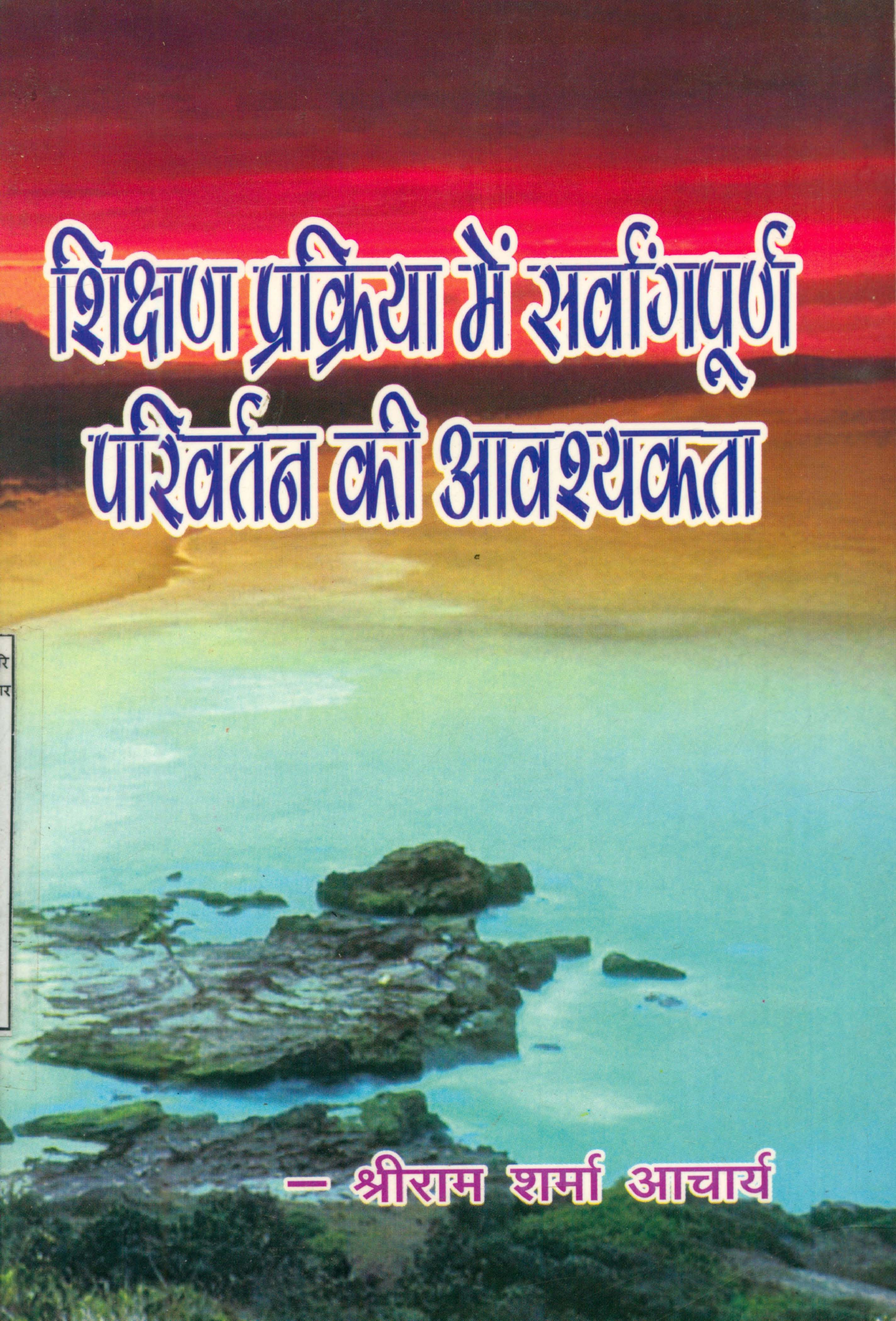

— श्रीराम शर्मा आचार्य

शिक्षण प्रक्रिया में सर्वांगपूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता

*

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
डॉ० प्रणव पंड्या (एम० डी०)

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

डॉ० प्रणव पंड्या (एम० डी०)

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

गुरु की महिमा, महत्ता एवं जिम्मेदारी

शिक्षा की महत्ता और गरिमा, उपयोगिता और आवश्यकता का वर्णन अनादि काल से लेकर अब तक के सभी मनीषियों ने पूरा जोर देते हुए किया है। यही कारण है कि "विद्या से अमृत प्राप्त होने" जैसे सूत्रों का प्रचलन हुआ। सरस्वती पूजन प्रकारांतर से विद्या की ही अभ्यर्थना है। गणेश पूजन भी इसी संदर्भ में किया जाता है। विद्वान सर्वत्र पूजे जाते हैं, जबकि शासन अधिकारी केवल अपने क्षेत्र में ही पूजे जाते हैं। धन संपत्ति जिस-तिस प्रकार खर्च होती, चुराई जाती, नष्ट की जाती भी देखी जाती है, किंतु ज्ञान-संपदा बाँटने पर अन्य पदार्थों की तरह घटती नहीं, बल्कि और अधिक बढ़ती ही रहती है। सुसंस्कारिता के रूप में यह जन्म-जन्मांतरों तक साथ देती रहती है।

विद्या दान को सर्वोत्कृष्ट दान माना गया है। अन्न, वस्त्र, औषधि, धन आदि के अनुदान कष्ट-पीड़ितों, अभाव ग्रस्तों की सामयिक सहायता भर कर पाते हैं। उससे तत्काल राहत तो मिलती है, जो आवश्यक भी है; परंतु चिर स्थाई समाधान इतने भर से नहीं होता। इसके लिए श्रमशीलता दूरदर्शिता, सूझ-बूझ के सहारे, स्वावलंबन के चिर स्थायी प्रबंध करने होते हैं। यह सब योग्यता एवं प्रतिभा के सहारे ही किया जा सकता है। स्पष्ट है कि स्थिर समाधान के लिए, सुविकसित-समुन्नत स्तर पाने के लिए शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इन आधारों के सहारे स्वयं भी पार हुआ जा सकता है और अपनी नाव में बिठाकर औरों को भी पार किया जा सकता है।

उदार हृदय व्यक्ति कष्ट-पीड़ितों, अभाव ग्रस्तों की सामयिक सहायता करते भी रहते हैं, परंतु जब किसी स्थिर समाधान की बात सोची जाती है, उबारने-उठाने का मार्ग खोजते हैं, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि संबंधित समुदाय को अधिक से अधिक ज्ञान संपन्न

किया जाए, योग्य बनाया जाए। इसके लिए शिक्षा व्यवस्था का ही सहारा लेना होता है। इतना चिंतन करने पर समाज के स्थायी विकास के लिए शिक्षण तंत्र को सुविकसित एवं समुन्नत बनाने की आवश्यकता को स्वीकार करना ही पड़ता है।

इस प्रयास में समाज के सभी वर्ग सहयोग कर सकते हैं। अशिक्षित स्वयं शिक्षित बनने में उत्साह लें और शिक्षित व्यक्ति दूसरों को अधिक से अधिक शिक्षा प्रदान करने में रस लें। इनके अतिरिक्त तीसरा वर्ग वह है, जो शिक्षा-संवर्धन के साधन जुटाता है। इमारत, उपकरण, वेतन आदि की व्यवस्था करता है। जो इसका महत्त्व समझते हैं; वे इस हेतु अपनी दानशीलता, उदारता का परिचय देते हैं। स्वयं से उतना न बन पड़े तो उदार तबियत के संपन्न व्यक्तियों को शिक्षा की उपयोगिता समझाकर, इस दान सहयोग से मिलने वाले पुण्य का स्मरण दिलाकर, चंदा इकट्ठा करके इस आवश्यकता को पूरा करते हैं। इस प्रकार सभी अपने क्षेत्र में शिक्षा विस्तार प्रक्रिया को अधिकाधिक गति दे सकते हैं।

सरकार भी इसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। उसका शिक्षा विभाग इसी प्रकार के ताने-बाने बुनता रहता है। विद्यालय खोलने और उन्हें चलाने में सरकारी प्रयत्न भी बहुत कुछ करते दिखाई देते हैं। इस संदर्भ में बढ़ती आबादी और देश की बढ़ती आवश्यकताओं को देखते हुए शिक्षा के नए-नए आयाम भी खड़े किए जा रहे हैं। सोचने वाले इस विषय पर सोचते हैं और नई-नई योजनाएँ बनाते हैं। चालू क्रम में सुधार, परिवर्तन, संवर्धन के लिए ऐसे उपाय खोजे जाते हैं कि अधिक से अधिक व्यक्तियों तक शिक्षा का अधिक से अधिक लाभ पहुँचाया जा सके।

इतने पर भी जो हो चुका है, हो रहा है; उसकी तुलना में अगले दिनों और भी अधिक बड़े कदम उठाए जाने की आवश्यकता है। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना होगा कि शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ शिक्षा का स्तर उठाना भी आवश्यक है। स्तर उठाने का अर्थ है शिक्षा के स्वावलंबन और सुसंस्कारिता प्रधान पक्षों को अधिक समुन्नत बनाया जाना।

स्वावलंबन के निमित्त गाँधी जी द्वारा सुझाए गए "बुनियादी-तालीम" के सिद्धांत अपनाने पड़ेंगे। छात्र शिक्षा के साथ-साथ ऐसा कुछ सीखता रहे, जिसके सहारे बिना नौकरी खोजे वह अपने क्षेत्र में, अपने बलबूते ही अपनी आजीविका चला सके। इस प्रतिपादन में गृह-उद्योगों की ओर संकेत किया गया है। इस प्रसंग को विचारकों और व्यवस्थापकों के ऊपर छोड़कर आगे बढ़ने के अलावा और कोई चारा नहीं है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है सुसंस्कारिता संवर्धन की विद्या। विद्यार्थी में इसे गहराई से जमाने-सींचने के लिए आज की परिस्थितियों में अकेला अध्यापक वर्ग भी बिना किसी बाहरी सहायता के बहुत कुछ करके दिखा सकता है। इस सच्चाई को चरितार्थ कर दिखाने वाले अनेक उदाहरण मौजूद हैं। अध्यापक को अपनी गरिमा समझने और चरितार्थ कर दिखाने में वर्तमान परिस्थितियाँ भी बाधा नहीं पहुँचा सकतीं। जहाँ शिक्षण-तंत्र के वेतनमान सुविधा-साधनों को बढ़ाए जाने की बात है, वहाँ तक तो अधिकाधिक साधन जुटाने का समर्थन ही किया जाएगा। पर इसमें यदि कुछ कमी रहे, अड़चन पड़े, तो भी यह तो हो ही सकता है कि अध्यापकगण अपनी गुरु-गरिमा को अपने ही बलबूते बनाए रहें और अपने गौरव का महत्त्व अनुभव करते हुए बढ़ते चलें।

शिक्षा एक प्रतिपादन है। उसका मूर्त रूप शिक्षक हैं। छात्रों का व्यक्तित्व सुधारने, उभारने में यों अभिभावकों को प्रधान रूप से जिम्मेदार माना जाता है, पर गहराई से सोचा या देखा जाए तो इस दायित्व से अध्यापक भी बचते नहीं हैं। उनकी भूमिका छात्रों का व्यक्तित्व विनिर्मित करने में अपने ढंग की अनोखी है। अभिभावक भी यह कार्य ठीक प्रकार से संपन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते। कारण कि अभिभावकों में बच्चों के प्रति लाड़-दुलार इतना भरा रहता है कि उनकी त्रुटियों को बहुधा वे समझ नहीं पाते और न उसे सुधारने के लिए आवश्यक समझदारी संजोए हुए होते हैं, इसके अतिरिक्त बालकों का घर पर बीतने वाला समय प्रायः खाने, सोने, मस्ती करने और स्कूल की तैयारी में ही निकल जाता है। वे

अभिभावक के साथ उस संदर्भ में नहीं घुलते-मिलते हैं, जिससे कि सुधारने और प्रगतिशील बनाने के लिए जिन प्रयासों की आवश्यकता है, उन्हें ठीक प्रकार पूरा किया जा सके। सबसे बड़ी बात है, बाल-विकास के लिए मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक पक्षों की समुचित जानकारी का अभाव। अभिभावकों में इसे जानने-सीखने की न तो आवश्यकता अनुभव होती है और न अभिरुचि, इस दृष्टि से वे भी बड़ी आयु के अनजान व्यक्ति ही समझे जा सकते हैं।

वैसे अभिभावकों को उसी स्थिति में नहीं रहना चाहिए। बालकों को जन्म देने और पालने-पोसने के अतिरिक्त उनमें यह समझ भी होनी चाहिए कि जिन मेहमानों को घर में बुलाकर बिठाया गया है, उनकी सुरक्षा, सुविधा की ही नहीं, प्रगति और प्रसन्नता की बात भी सोची जाए। उन्हें उस गुण, कर्म और स्वभाव की संपदा से सुसंपन्न बनाया जाए, जो उनके व्यक्तित्व को निखार सकती हैं और भविष्य को सुधार सकती है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि अभिभावक अपने परिपूर्ण उत्तरदायित्व का तत्त्व-दर्शन न तो समझते हैं और न समझने का प्रयास ही करते हैं। माताएँ प्रायः अशिक्षित या अल्पशिक्षित होती हैं। उन पर गृह-कार्यों की व्यस्तता और अस्त-व्यस्तता के कारण रुग्णता छाई रहती है। वे बालकों के लिए शरीर-सुविधा जुटाती रहें तो भी गनीमत है। उन्हें कोसने, गाली देने, पीटने की एक मात्र सुधार के नाम पर बरती जाने वाली प्रक्रिया को कम से कम बरतें तो भी उन्हें धन्यवाद दिया जा सकता है। जो बालकों को सुसंस्कारी एवं प्रगतिशील बना सकें, ऐसी माताएँ विरली ही होती हैं। शेष तो जन्म-दात्री मात्र रहकर, अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेती हैं।

सरकार के लिए यही बहुत है कि वह स्कूलों के लिए इमारत, उपकरण, कार्यक्रम, वेतन, निरीक्षण, पदोन्नति, तबादले आदि की व्यवस्था बनाती है। सरकार कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हैं, जिसका क्षेत्र से सीधा संपर्क बनता हो और वह लंबी अवधि तक निरंतर बना रहता हो। यह तो शिक्षकों से ही बन पड़ता है। उन्हें शिक्षा का जीवंत प्रतिमा कहनी चाहिए। देवताओं की प्रतिमा पत्थर की, धातु की

बनती है, पर शिक्षा के देवता तो हाड़-माँस के होते हैं—पढ़े-लिखे, सुयोग्य, सुशिक्षित और भावनाशील। यदि देश का भविष्य उज्ज्वल होता है तो उसमें प्रधान भूमिका नई पीढ़ी की होगी। नई पीढ़ी को प्रखरता के ढाँचे में ढालने में समर्थ यदि कोई शक्ति है, तो वह शिक्षा के मूर्तिमान देवता शिक्षक की उत्कृष्टता ही है। उसी पर भावी प्रगति की आशा केंद्रीभूत समझी जा सकती है।

विद्यार्थी अपने समय का महत्त्वपूर्ण भाग अध्यापकों के साथ रहकर विद्यालयों में गुजारते हैं। उनके प्रति सहज श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव भी रहता है। जो विद्या दान देते हैं, उच्च शिक्षित हैं, अपनी सहायता से छात्रों को भावी जीवन में सुयोग्य, संपन्न बना सकने के लिए अभूतपूर्व भूमिका निभाते हैं, उनके उपकारों को कोई कैसे भुला सकता है ? उनसे आयु में ही नहीं हर हालत में छोटी स्थिति वाले छात्रों पर उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व की छाप पड़नी ही चाहिए। अध्यापकों का अनुशासन सहज स्वाभाविक है। आते-जाते समय उनका अभिनंदन होता है। उनके कक्षा में प्रवेश करते ही स्तब्धता छा जाती है। जो बच्चे घर में उदंडता बरतते हैं, वे भी स्कूल के अनुशासन में सीधे हो जाते हैं। कोई जरूरी नहीं कि इसके लिए हमेशा दंड देने की कठोरता अपनानी पड़े, पर अनुशासित वातावरण को बनाए रखना अध्यापक का अपना काम है। यह तनिक भी कठिन नहीं है। यदि शिक्षक का निजी जीवन चरित्र ठीक हो और व्यवहार शालीनता से भरा-पूरा हो तो कोई कारण नहीं कि छात्र उनका अनुशासन न माने, प्रेरणा ग्रहण न करे और दिए गए तथ्यपूर्ण परामर्शों पर ध्यान न दे। माना कि समय की चाल उलटी है और उच्छृंखलता के माहौल ने शिक्षार्थियों में भी उद्दंडता भर दी है। इतने पर भी निराशा जैसी कोई बात नहीं है। अनगढ़ पशुओं को सरकस वाले चतुराई के साथ वशवर्ती कर लेते हैं और उन्हें आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाने योग्य बना लेते हैं। फिर कोई कारण नहीं कि गुरु गरिमा सही स्थिति में होने पर छात्रों को स्कूली पाठ्यक्रम में निष्णात और व्यक्तित्व की दृष्टि से समुन्नत, सुसंस्कृत न बनाया जा सके।

माता-पिता और गुरु को त्रिदेवों की उपमा दी गई है। उनमें से माता जन्म देती है, पिता पोषण करता है, किंतु गुरु तो नर पामर को शिक्षा-दीक्षा से अलंकृत करके, नर-देवों की पंक्ति में बिठा देता है। इसी कारण उसके लिए अधिक श्रद्धा व्यक्त की गई है, उसे आदर मान आदि दिया गया है, पर गरिमा के अनुरूप शिक्षक को अपना स्तर ऐसे साँचे के सदृश्य बनाना चाहिए, जिसके संपर्क में आने वाले कच्ची मिट्टी जैसे बच्चे मन मोहक खिलौनों के रूप में ढलते चले जाएँ। ऐसा कर पाने पर ही यह अपेक्षा की जा सकती है कि न केवल छात्र अभिभावकों का समुदाय, वरन् सारा समाज उन्हें भाव भरी श्रद्धा प्रदान करेगा। उनका आदेश मानने में पीछे न रहेगा।

शिक्षा को स्कूली पाठ्यक्रम कहा जाए तो सुसंस्कारिता संवर्धन से संबंधित सभी प्रयासों को दीक्षा कहना होगा। स्कूली पढ़ाई पूरी कराना तो आवश्यक है ही। इसे वेतन के लिए किया गया परिश्रम भी माना जा सकता है, पर बात इतने तक सीमित नहीं समझी जा सकती। करणीय यह भी है कि जिस प्रकार माता-पिता बच्चों के प्रति भावनाशील और प्रयत्नरत रहते हैं, उसी प्रकार अध्यापक भी अपने संपर्क के छात्रों में शालीनता, सज्जनता, श्रमशीलता, जिम्मेदारी, बहादुरी, ईमानदारी और समझदारी जैसी सत्प्रवृत्तियों को विकसित करने में कुछ उठा न रखें। यह प्रयास ही उनकी वह सेवा होगी, जिसके आधार पर सुविकसित नई पीढ़ी को, समाज के नव निर्माण का श्रेय सुयोग मिलेगा। इन्हीं प्रयत्नों में निरत रहने वाले शिक्षक समूचे समाज को अपना ऋणी बना सकते हैं। स्वयं ही अपनी गरिमा में भी चार चाँद लगा सकते हैं।

❑❑

अध्यापक अपने आदर्श से मार्गदर्शन दें

स्कूली शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को प्रस्तुत परिस्थितियों संदर्भ एवं प्रसंगों की समुचित जानकारी देना है; इस दृष्टि से भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि विषयों की जानकारी का पाठ्य-पुस्तकों में समावेश है। यह सभी विषय नवोदित छात्रों को अधिक जानकारी और वस्तुस्थिति से अवगत कराने के लिए समाविष्ट किए गए हैं। इस जानकारी की उपयोगिता, आवश्यकता कम नहीं है। इसी कारण शिक्षा का वर्तमान ढाँचा खड़ा किया गया है। उसी प्रयोजन के लिए स्कूल, कॉलेज खुले हैं, अध्यापक नियुक्त किए गए हैं, परीक्षाएँ होती हैं और उत्तीर्णों को प्रमाण पत्र व पुरस्कार आदि मिलते हैं। इसी आधार पर उनके ज्ञान विस्तार का मूल्यांकन किया जाता है और उसी के अनुरूप उपयुक्त पदों पर उनकी नियुक्ति भी होती है. अथवा, व्यवसाय आदि में अपनी जानकारियों के आधार पर अधिक कुशल सिद्ध होते एवं सफल बनते हैं। इस प्रकार प्रचलित शिक्षण-प्रक्रिया को भी उपयोगी एवं आवश्यक समझते हुए सराहा जा सकता है। उसकी अवमानना करने जैसा तो कोई कारण ही नहीं है।

अभी जो है, उसकी प्रशंसा करते हुए भी जो कमी है, उसकी ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। यदि वह कभी अखरे तो उसे दूर करने का प्रयास भी करना चाहिए। चिंतन की उत्कृष्टता, चरित्र की प्रामाणिकता और न्यायोचित परस्पर सहकार की प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जिन्हें शिक्षण काल में ही छात्रों में अंकुरित और पल्लवित किया जाना चाहिए, क्योंकि गुण, कर्म, स्वभाव में सत्प्रवृत्तियों का समावेश हुए बिना व्यक्तित्व उस स्तर तक नहीं उभरता, जिससे आत्मसंतोष मिल सके, प्रतिभा उभर सके और प्रामाणिकता के आधार पर जन साधारण का सम्मान एवं सहयोग अर्जित करना संभव हो सके।

इस आवश्यकता की पूर्ति शिक्षण के साथ-साथ ही होती चले, यह आशा की जानी उपयुक्त ही है क्योंकि हरी लकड़ी-मोड़ी जा

सकती है, गीली मिट्टी से बर्तन, खिलौने बन सकते हैं, धातु को नरम बनाकर ही उसे किसी ढाँचे में ढालकर उपयोगी उपकरण के स्तर तक पहुँचाया जा सकता है। संस्कार ग्रहण करने की सही आयु उठती उम्र ही है। उसमें प्रधान उपलब्धि शिक्षा के रूप में अर्जित की जाती है, किंतु साथ ही यह भी सही है कि इन्हीं दिनों वातावरण के अनुरूप नवोदित बालकों का व्यक्तित्व भी भले-बुरे स्तर का विनिर्मित होता है। कुसंग एवं सत्संग उन्हें अत्यधिक प्रभावित करते हैं। स्कूलों में प्रवेश पाने से लेकर उसे छोड़ने तक की यह संधि ऐसी होती है, जिसमें भाव-संवेदनाओं का अत्यधिक उभार रहता है। वे वातावरण से, संबद्ध व्यक्तियों से प्रेरणाएँ ग्रहण करते और उन्हें जीवन क्रम में उतारकर परिपक्व करते जाते हैं। यही संचय विकसित स्थिति में पहुँचने पर व्यक्तित्व एवं चरित्र रूप में दृष्टिगोचर होता है।

इन तथ्यों को समझते हुए शिक्षण काल में लगने वाले बहुमूल्य समय में ही नीतिनिष्ठ समाजनिष्ठ की मनोभूमि बनाई जानी चाहिए। उन्हें श्रेष्ठ नागरिक एवं प्रतिभावान पुरुषार्थी बनाए जाने के लिए समुचित प्रयत्न होना चाहिए। आदतों का परिमार्जन एवं परिष्कार इन्हीं दिनों संभव है। इस संभावना को सार्थक कर दिखाने पर ही यह आशा अपेक्षा की जा सकती है कि समय आने पर श्रेष्ठ नागरिक बन सकेंगे। समाज को समुन्नत बनाने में सहयोग दे सकेंगे। अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व के द्वारा देश, धर्म, समाज ओर संस्कृति की मूल्यवान सेवा कर सकेंगे। यही वैयक्तिक और राष्ट्रीय समृद्धि भी है। किसी देश के सुयोग्य नागरिक ही उसकी प्रगति के मूलभूत आधार होते हैं। महामानवों का मूल्य इतना अधिक होता है, जिस पर कुबेर की संपदा न्यौछावर की जा सके। प्रखरता संपन्न व्यक्ति ही पिछड़ेपन की परिस्थितियों को समाप्त करने एवं हर क्षेत्र में प्रगतिशीलता का वर्चस्व भरने में सफल होते हैं। सुविकसित, सुसंस्कृत प्रतिभाओं को नर देव माना गया है। इस स्थिति तक कैसे पहुँचा जाए ? सामान्य से असामान्य स्तर का बनने में किस प्रकार सफलता पाई जाए ? इस प्रसंग पर हर विचारशील को गंभीरता पूर्वक विचार करना चाहिए कि राष्ट्र की उदीयमान प्रतिभाओं को स्कूल, कॉलेज में पढ़ने वाले छात्रों को, ग्राम-शहर में रहने वाले

नव-युवकों को राष्ट्र की उदीयमान भवितव्यता मानकर, उन्हें शिक्षित बनाने के साथ-साथ सुसंस्कृत बनाने के लिए कुछ उठा न रखा जाए।

यह सब कैसे हो सकता है ? इतने बड़े काम में हाथ कौन डाले ? उसे पूरा कर दिखाने का व्रत कौन धारण करे ? इसके उत्तर में एक ही केंद्र पर निगाह जा टिकती है, वह है शिक्षा तंत्र। इसमें सूत्र संचालक, अधिकारी, नीति-निर्माताओं का उच्चवर्ग तो प्रमुख है ही, क्योंकि उन्हीं के इशारे पर छात्रों को पढ़ाई की सारी सुविधाएँ, योजनाएँ मिलती हैं, परंतु इस प्रक्रिया का व्यवहारिक कार्यभार शिक्षक ही सँभालते हैं। आर्कीटैक्ट किसी इमारत का नक्शा भर बनाकर अपना काम पूरा करता है। उसकी नींव खोदने से लेकर, इमारत खड़ी करने और छत डालने तक की पूरी प्रक्रिया, राज-मजदूर, लुहार, बढ़ई आदि शिल्पी-श्रमजीवी ही मिलकर पूरी करते हैं। शिक्षा तंत्र के विशाल क्षेत्र में, अग्रिम मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिकों की तरह, शिक्षक समुदाय की ही प्रधान भूमिका रहती है। श्रेय का दावेदार कोई भी क्यों न बने, पर यदि नई पीढ़ी का स्तर वास्तव में ही ऊँचा उठाना है तो उसमें पहली श्रेणी की भूमिका निभाने में अध्यापकों का श्रम और मनोयोग ही चमत्कारी सत्परिणाम प्रस्तुत करता दिखाई देगा। इस प्रकार उन्हें प्रकारांतर से नींव के पत्थर जैसी स्थिति में रहने वाले राष्ट्र निर्माता ही कहा जा सकता है। स्वतंत्रता के बाद जो राहत की साँस लेने का जन साधारण को अवसर मिला है, उसे प्रगतिशीलता की दिशा देने का कार्य अध्यापक ही कर सकते हैं। अध्यापकों में भी वे वंदनीय अभिनंदनीय हैं, जिन्हें उपाध्याय का आचार्य का श्रेय सम्मान मिल सके।

सामान्य अध्यापक पाठ्यक्रम पूरा करने भर में अपनी जिम्मेदारी समेट लेते हैं। छात्र पाठ्य पुस्तकों की सहायता से अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करते हैं। अध्यापक अपनी कक्षा में उस पढ़ाई को सुव्यवस्थित बनाने की विधि व्यवस्था बना देते हैं। ढर्रा इसी प्रकार चलता रहता है और परीक्षा देकर फेल-पास होने का क्रम भी चलता रहता है। पास होने वाले छात्रों में उत्साह और फेल होने वालों में

निराशा एवं दुःख देखा जाता है। इस घुड़दौड़ में आगे निकलने वालों को प्रमाण-पत्र तो मिलते हैं, पर निश्चित नहीं कि उनके आधार पर कोई अच्छी नौकरी मिल सकेगी या नहीं ? फेल होने वाले बच्चे फिर से पढ़ते हैं या निराश होकर बैठ जाते हैं, पर स्वावलंबन के आधार पर आजीविका उपार्जन के संबंध में इस समुदाय के सभी सदस्यों को अनिश्चितता ही घेरे रहती है।

शिक्षा में स्वावलंबन के लिए उपयुक्त 'कला-कौशल का समावेश होने की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उनके लिए व्यापक प्रबंध करना जरूरी है। सुसंस्कारिता की दिशा में एक प्रयास यह हो सकता है कि पाठ्य-पुस्तकों में एक प्रकरण नीतिनिष्ठा को उभारने के लिए भी जुड़ा रहे। सामूहिकता, सहकारिता, समाजसेवा, शालीनता, सद्भावना जैसी सत्प्रवृत्तियों को अपनाने, उन्हें व्यावहारिक जीवन में उतारने की सीख भी दी जाती रहे। इस मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का समाधान सुझाया जाए और सद्गुणों के अभ्यास का कोई सुनिश्चित तरीका बताया जाए, पर वैसी कोई साँगोपांग व्यवस्था अभी बन नहीं पाई है। इस संदर्भ में कहा तो बहुत कुछ जाता रहा है उसकी आवश्यकता का समर्थन भी किया जाता है, पर यह सब उथला ही रह जाता है। अनिवार्य पाठ्यक्रम बनाने और उसे सभी कक्षाओं में लागू करने का कोई सरकारी प्रबंध अभी तक हो नहीं सका है।

एक डर यह बना रहता है कि नीतिनिष्ठा के पाठ्यक्रम को कहीं धर्म संप्रदाय का शिक्षण न कहा जाने लगे ? उसे सांप्रदायिकता का विष बीज फैलाना न मान लिया जाए ? वस्तुतः इस प्रकार भ्रमग्रस्त होने का कोई कारण नहीं है। धर्म निरपेक्ष राज्य में सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता। उसके लिए मनाही है भी, पर नीतिनिष्ठा को भी उसी लपेट में ले लेना सर्वथा अनुचित है। हो सकता है कि सांप्रदायिक मान्यताओं में नीति का समर्थन न हो, पर इसी कारण नीतिनिष्ठा को संप्रदायवाद कहकर, उसकी उपेक्षा-अवमानना भी तो नहीं की जा सकती। नागरिक शास्त्र, समाज शास्त्र आदि निर्विवाद रूप से पढ़ाए जा सकते हैं, तो आदर्शवादिता

का पक्षधर आचार शास्त्र क्यों नहीं पढ़ाया जा सकता ? जीवनी विद्या को महत्त्वहीन करके उपेक्षित कैसे किया जा सकता है ? उसे शिक्षण पद्धति का अविच्छिन्न अंग क्यों नहीं बनाया जा सकता ? आखिर संख्या में अधिक होना ही तो सब कुछ नहीं है, व्यक्तित्व की उत्कृष्टता का भी तो अपना मूल्य है। इस विषय से अपरिचित रहकर, दृष्टिकोण, चरित्र व्यवहार में उत्कृष्टता का समावेश भी तो नहीं किया जा सकता। इस अभाव के रहते, किसी से महानता अपनाने और समाज का अभिनंदनीय घटक बनने की आशा भी तो नहीं की जा सकती।

सरकारी पाठ्यक्रम में यदि नैतिक शिक्षा का, अविच्छिन्न आधार का समावेश नहीं है, तो भी उस आवश्यकता को कम से कम शिक्षक तो अनुभव करें और निजी तौर से उस संबंध में जो कुछ बन पड़ सकता है, उसे करने के लिए तत्परता बरतें, प्रयत्नशील रहें। अभिभावक की तरह अध्यापक की भी कुछ नैतिक जिम्मेदारियाँ हैं। जिस तरह अभिभावक बालकों के लिए रोटी-कपड़े का प्रबंध करके अपनी जिम्मेदारियों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते, उसी प्रकार अध्यापक भी कोर्स की पढ़ाई पढ़ाकर उन उत्तरदायित्वों से छुटकारा नहीं पा सकते, जो अनायास उनकी गुरु-गरिमा के बीच सघन रूप में जुड़ गए हैं।

निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा करते समय वे बीच-बीच में ऐसी टिप्पणियाँ जोड़ते रह सकते हैं, जिनसे छात्रों को अतिरिक्त दिशा मिलती रहे। वे अपनी निर्धारित पढ़ाई तो दिलचस्पी के साथ पूरी करें ही, पर साथ ही यह भी उत्कंठा जग पड़े कि उन्हें संव्याप्त दुष्प्रवृत्तियों से बचना है, दुष्परिणाम भुगतने के लिए विवश करने वाले कुचक्र में नहीं फँसना है। अपने स्तर को क्रमशः इसी प्रकार विकसित करते जाना है, जिससे उनकी गणना प्रामाणिक, जिम्मेदार, प्रतिभावान लोगों में होने लगे। इसके लिए जिस प्रकार का मानव बनाया जाना आवश्यक है, उसे पाठ्यक्रम की विवेचना करते हुए भी हृदयंगम कराया जा सकता है।

नीति शिक्षा कहने-सुनने में तो सरल है, पर वह अति कठिन है। इसके लिए सबसे पहले अध्यापक को अपना बाहरी और आंतरिक जीवन ऐसे साँचे में ढालना होता है, जिसका अनुगमन करते हुए संबंधित छात्र अनायास ही प्रामाणिक एवं शालीनता के ढाँचे में ढलने लगें। वाणी, सिद्धांतवाद का महत्त्व और स्वरूप समझाने में किसी तरह सफल हो जाती है, पर सबसे अधिक प्रभाव परामर्शदाता के परिष्कृत व्यक्तित्व का ही पड़ता है।

आज की परिस्थितियों में कठिनाई समझी जाने वाली नीति शिक्षा को व्यावहारिक और ग्राह्य बनाने का गौरवमय उत्तरदायित्व शिक्षकों पर आता है। वाणी से दिए जाने वाले मार्ग दर्शन के साथ-साथ उन्हें चरित्र द्वारा दिए जाने वाले शिक्षण की विधा विकसित करनी होगी। यदि अपने गौरव का अनुभव किया जा सके तो ऐसा करना कठिन नहीं, रोचक और मनोरम हो जाता है, उसमें घाटा कहीं भी नहीं। छात्रों, अभिभावकों के श्रद्धापात्र बनते ही शिक्षकों को वह उच्चस्तरीय सम्मान और सहयोग प्राप्त होने लगता है जिसके लिए बड़े-बड़े नेता, अधिकारी तरसते हैं।

❑❑

शिक्षा में सुसंस्कारिता का समन्वय

प्राथमिक कक्षाओं के लिए तो अध्यापक आवश्यक हैं, क्योंकि उन दिनों बालकों का बौद्धिक विकास अत्यंत सीमित होता है। सहारे के बिना, उनके लिए संभव नहीं कि वर्णाक्षर स्वर, व्यंजन, गणित आदि की प्रारंभिक आवश्यकता भी अपने बलबूते पूरी कर सकें। इसलिए प्राथमिक पाठशाला में तो पाठ्यक्रम पढ़ने वालों की सहायता अनिवार्य रूप से आवश्यक रहती है। इसके उपरांत जैसे-जैसे छात्रों की समझदारी बढ़ती जाती है, अध्यापकों के मार्गदर्शन की आवश्यकता कम होती जाती है। अनेक छात्र हैं जो घर पर पढ़कर परीक्षा देते और पास होते रहते हैं। ऐसे प्राइवेट कहे जाने वाले छात्रों की संख्या रेगुलर छात्रों की संख्या के लगभग जा पहुँचती है। वे कुंजियों, गाइडों, गैस पेपर्स से काम चला लेते हैं। कभी-कभी कुछ समय के लिए ट्यूटोरियल प्राइवेट स्कूलों में भी प्रवेश लेते हैं। इस प्रकार उनकी नाव पार लगती रहती है। लड़कियाँ तो अधिकतर उसी पद्धति को अपनाती और स्नातकोत्तर परीक्षा तक पास कर लेती हैं। सयानी होने पर उनके अभिभावक उन्हें कॉलेजों में भेजने से कतराते हैं। विशेषतया देहाती लड़कियाँ तो शहरी बोर्डिंग में रहकर, पढ़ने की व्यवस्था से वंचित ही रहती हैं।

तात्पर्य यह है कि बिना अध्यापकों के काम चलाने वाला तंत्र विकसित होता जाता है। पत्राचार विद्यालय, खुले विश्वविद्यालय, रेडियो, टेलीविजन आदि द्वारा सिखाए जाने वाले पाठ्यक्रम यह सिद्ध करते हैं कि हमारा रुख किस ओर है ? अभी भी एम० ए०, कानून आदि के छात्र एक घंटे के लिए कॉलेज की कक्षा में बैठते हैं, बाकी तो सभी तैयारी उन्हें घर पर रहकर ही करनी पड़ती है। यदि स्कूल भर्ती का ऐच्छिक विषय बना दिया जाए और ट्यूटोरियल स्कूलों में पढ़ाई करने की सुविधा मिल जाए तो फिर देखा जा सकता है कि स्कूल में नियमित भर्ती वाली पसंद भी कितनों की रहती है ? कारण

स्पष्ट है कि पढ़ाने वाले जो कुछ पढ़ाते हैं, वह इतना रहस्यमय या महत्त्वपूर्ण नहीं होता, जिसके लिए भर्ती होकर समय का बंधन बाँधने, फीस देने तथा घर और स्कूल के बीच चक्कर काटने का जोखिम उठाना आवश्यक हो। अनुशासन और व्यवस्था की दृष्टि से स्कूलों का ढाँचा खड़ा रखने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। सोचा जाता है कि पाठशालाओं के वातावरण में शिक्षार्थी अनुशासन सीखता है, पढ़ाई का तरीका सीखता है, सामूहिकता का लाभ उठाता है, पर यदि अभिभावक यह देखने लगें कि बालक के सुधरने, सुसंस्कृत होने जैसी सुविधा स्कूलों में नहीं रह रही है और वहाँ पाई जाने वाली उच्छृंखलता पनप रही है तो यह भी हो सकता है कि स्कूलों में भर्ती कराने की अनिवार्यता का महत्त्व घटने लगे। उस स्थिति में प्राइवेट पढ़ाई की प्रवृत्ति पनपे तो यह भी हो सकता है कि जनमत के दबाव से सरकार भी वैसी छूट देने लगे। इससे उसे भी आर्थिक बचत का प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। दूसरे प्रकार के अन्यान्य खर्चों में बचत होती है।

स्मरण रखा जाना चाहिए कि उपयोगिता ही किसी तंत्र को स्थायित्व प्रदान कर सकती हैं, मान एवं महत्त्व बनाए रख सकती है। उसमें यदि कमी पड़ेगी, तो निश्चित ही उपेक्षा और अवमानना बढ़ेगी। चिह्न पूजा के लिए होने वाली घेर-बटोर से लोग ऊबने लगेंगे और बंधनों में रहकर दूसरा रास्ता ढूँढ़ लेंगे।

गैर-सरकारी नर्सरी, मांटेसरी पब्लिक स्कूलों की बाढ़-सी आ रही है। उनकी संख्या तथा छात्रों की भर्ती की संख्या भी निरंतर बढ़ती जाती है। यद्यपि इस प्रकार के तंत्र सरकारी स्कूलों की तुलना में काफी महँगे होते हैं फिर भी जिन्हें थोड़ी भी आर्थिक सुविधा है, वे बच्चों को उन्हीं स्कूलों में भेजना पसंद करते हैं। आकर्षण केवल यही है कि वहाँ मात्र पाठ्यक्रम ही पूरा नहीं कराया जाता, वरन् बाल-विकास की दिशा में अथक प्रयास भी मनोयोगपूर्वक किए जाते हैं।

सामान्य जन भी यह जानते हैं कि जब पढ़ने के बाद नौकरी मिलना दिनों-दिन कठिन होता जा रहा है, तो बच्चों को व्यर्थ क्यों

उसमें उलझाए रखा जाए ? उस समय को बचाकर उसे घरेलू व्यवसायों में क्यों न लगाया जाए, ताकि वह अनुभव प्राप्त करने के साथ-साथ काम में हाथ भी बँटाने लगे। इससे पढ़ाई का खर्च भी बचता है और आमदनी में भी कुछ न कुछ अभिवृद्धि होती है। इस कारण अनेक छात्र अभिभावकों के इस परामर्श में सार देखते हैं और पढ़ाई की चिह्नपूजा छोड़कर काम-धाम संभालने लगते हैं।

विचारणीय है कि शिक्षा के प्रति ऐसी उपेक्षा और बगावत क्यों पनप रही है ? अभी उसका विस्फोट नहीं हुआ है, पर यह सहज ही जाना जा सकता है कि माहौल किस प्रकार का बन रहा है ? असंतोष की स्थिति लंबे समय तक नहीं बनी रह सकती, उसका विकल्प उभरता है। शिक्षा का स्तर गिरने से छात्रों और अध्यापकों के बीच की खाई चौड़ी होती जाती है। इस कारण उभरा आक्रोश कई बार इस हद तक पहुँच जाता है कि शिक्षकों और शिक्षार्थियों के बीच विग्रह खड़ा हो जाता है। उससे अशोभनीय और अवाँछनीय घटनाएँ घटित होती हैं। असंतोष अभिभावकों में भी रहता है, इसलिए वे उपद्रवी बच्चों को डाँटने की अपेक्षा उन्हीं का पक्ष लेने लगते हैं। पाठ्यक्रम उथले मन से पढ़ाया जाता और सुसंस्कारिता के लिए कारगर प्रयास नहीं किए जाते, इन दो शिकायतों को अभिभावक प्रायः दुहराते रहते हैं और अपने असंतोष की अभिव्यक्ति समय-समय पर करते रहते हैं।

शिक्षा का उद्देश्य पढ़ाई पूरी करा देना मात्र दीख पड़ता है। अन्य कोई विशेषता वहाँ से हस्तगत न होने पर प्रत्यक्षदर्शी इस प्रकार सोच भी सकता है। इसका दोष किसे दिया जाए ? शिक्षातंत्र तो अप्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षतः तो उसके संचालक, संबद्ध अध्यापक ही दिखते हैं। इसलिए दोष या तंत्र की कमी भी, उसे प्रत्यक्ष स्वरूप देने वाले अध्यापक में ही दीखती है। असंतोष का कारण कुछ भी हो, पर प्रत्यक्षवादी उस कमी को अध्यापकों की उपेक्षा या अयोग्यता ही मानते हैं। ऐसी लोकमान्यता के कारण छात्रों की, अभिभावकों की गहरी श्रद्धा अध्यापकों को मिलती नहीं। उन्हें गुरु-गरिमा का प्रतिनिधि मानने का भाव जागता नहीं। स्वाभाविक है कि ऐसी दशा में

उन्हें उस उच्चस्तरीय मान सम्मान से वंचित रह जाना पड़ता है, जिसके कि वे आरंभ से ही अधिकारी रहे हैं। आज भी वह सम्मान अध्यापक वर्ग को प्राप्त हो, ऐसी आशा अपेक्षा की जाती है।

प्राचीनकाल में गुरुकुल प्रणाली थी। घरों से बहुत दूर वन-आरण्यकों में वे स्थापित होते थे। घर आने-जाने की न स्वीकृति मिलती थी और न सुविधा होती थी। उन संस्थाओं में रहन-सहन, आहार-विहार का ऐसा क्रम निर्धारित रहता था कि जिसमें गरीब-अमीर का अंतर न दिख पड़े। वे संस्थाएँ भिक्षाटन, दान-दक्षिणा से चलती थी। डाक मनीआर्डर प्रणाली न होने से अभिभावक नियमित खर्च भेज नहीं पाते थे। ऐसी दशा में सभी को गुरुकुलों में मितव्ययिता का मार्ग अपनाना ही पड़ता था। छात्र, सुसंपन्न परिवारों जैसी सुविधाएँ प्राप्त नहीं कर पाते थे। यही नहीं, गुरुकुल व्यवस्था संबंधी अनेक कार्य श्रम से मिल-जुलकर छात्रों को ही करने पड़ते थे। उदाहरणार्थ—आश्रम की स्वच्छता, गौओं को चराना, उनकी संभाल करना, सब्जी उगाना, बागवानी, जंगल से ईंधन इकट्ठा करके लाना, भिक्षा माँगकर लाना, झोपड़ियों की मरम्मत आदि अनेक श्रम साध्य काम करने होते थे।

गुरुकुल इस प्रकार असुविधाओं से भरे होते हुए भी, दूर-दूर क्षेत्रों के विचारशील व्यक्ति अपने बालकों को बड़ी उत्कंठा से उनमें भर्ती कराते थे। अपने बालकों को आँखों के आगे सुविधाओं के बीच रखने की स्वाभाविक इच्छाओं पर नियंत्रण रखते हुए, छाती पर पत्थर रखकर, फूल से बच्चों को कष्टसाध्य जीवन में प्रसन्नतापूर्वक भेजते थे।

ऐसा क्यों होता था ? क्या वे अभिभावक नितांत दरिद्र या निष्ठुर थे ? वास्तव में इनमें से एक भी बात नहीं थी। प्रत्यक्ष कारण यह था कि गुरुकुलों से निकलने वाले छात्र, जहाँ कई विद्याओं के ज्ञाता होते थे, वहाँ उनकी प्रतिभा में शालीनता, पुरुषार्थ परायणता के चार चांद लगे होते थे। इन उपलब्धियों को देखकर न केवल अभिभावक कृत-कृत्य होते थे, वरन् पड़ौसी भी छात्रों को हर दृष्टि से सुसंस्कृत, समुन्नत देखकर भाव-विभोर हो उठते थे। उन प्रत्यक्ष

उदाहरणों को देखकर अन्यान्य लोग भी अपने बच्चे को बड़ी उत्कंठा से गुरुकुलों में भर्ती कराते थे। जिन्हें प्रवेश का अवसर मिल जाता था वे अपना भाग्योदय हुआ अनुभव करते थे।

गुरुकुलों में पढ़ाई के लिए पाठ्य-पुस्तकें थोड़ी ही होती थीं। उन दिनों प्रेस नहीं थे। कागज भी कम मिलता था। इसलिए हाथ से ही पोथियाँ तैयार की जाती थीं। उनमें सूत्र-संकेत भरे रहते थे, ताकि उनके सहारे पढ़ाए गए विषय की स्मृति उभरती रहे। शिक्षा मानसिक और व्यावहारिक होती थी। अधिक समय तो व्यवहार कुशलता उभारने और उसके साथ ही आदर्शवादिता, शालीनता आदि का अभ्यास कराने का उपक्रम चलता था। अध्यापकगण इसी पक्ष को पूरा करने में अपनी अधिकांश शक्ति नियोजित करते थे। उन दिनों परीक्षा और सफलता की ? जाँच-पड़ताल इसी आधार पर होती थी कि किसने मानवी गरिमा के अनुरूप प्रतिभा उभारने में किस सीमा तक प्रगति की ? छात्र, अभिभावक, अध्यापक सभी शिक्षा की सार्थकता को इसी कसौटी पर कसते थे।

यही सब कारण थे जिससे उन दिनों गुरुकुलों से निकलने वाले छात्र नर-रत्न कहे जाते थे। वे अपनी चरित्रनिष्ठा, प्रतिभा और लोकसेवी प्रवृत्ति में इतने खरे पाए जाते थे, कि सर्वसाधारण द्वारा उन्हें सतत सम्मान और सहयोग प्राप्त होता रहे। ऐसे ही सुशिक्षित छात्रों का जिन दिनों बाहुल्य था, उन दिनों यह देश, ३३ करोड़ जनसंख्या वाला वृहत्तर भारत तैतीस कोटि देवताओं का निवास माना जाता था। इसलिए उन नर-रत्नों की जन्मभूमि को "स्वर्गादपि गरीयसी" होने का, विश्वश्रद्धा से सिंचित होने का गौरव मिलता था।

प्राचीन कालीन सतयुग और कुछ नहीं गुरुकुल प्रणाली की शिक्षा पद्धति का चमत्कार था। सर्वजनीन बहुमुखी पुनरुत्थान के लिए हमें उसी विद्या, उसी परिपाटी से प्रेरणा लेनी होगी। समय के साथ परिस्थितियाँ भी बदल गई हैं। इसलिए ठीक प्राचीनकाल जैसी विधि-व्यवस्थां तो नहीं अपनाई जा सकती, पूरी तरह से उसी की प्रतिमूर्ति खड़ी करना संभव नहीं है, परंतु इतना तो हो ही सकता है कि उस पद्धति का स्वरूप एवं अनुशासन गंभीरतापूर्वक समझा जाए

और उतने भर को वर्तमान शिक्षाक्रम में समाविष्ट कर लिया जाए। परिस्थितियाँ बदल जाने से उसी पद्धति को तो ज्यों का त्यों नहीं लाया जा सकता पर वह सिद्धांत तो शाश्वत है। शिक्षा के साथ प्रतिभा निखार और सुसंस्कारिता संवर्धन का क्रम तो जोड़ा जा सकता है। इसे तो अध्यापक वर्ग द्वारा, अपने ही बलबूते प्रारंभ किया और बहुत हद तक सफल बनाया जा सकता है। तीसरा पक्ष स्वावलंबन भी शिक्षा के साथ सुसंबद्ध होना चाहिए, पर इसके लिए शिक्षातंत्र की मनःस्थिति और परिस्थिति ही कुछ कर सकेंगी। जन स्तर पर भी वैसा प्रबंध बन पड़ना संभव है।

आज के अध्यापक को अपनी गरिमा और जिम्मेदारी अधिक गंभीरता से समझनी चाहिए। शिक्षा के साथ सुसंस्कारिता जोड़ने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा शिक्षा की उपेक्षा और शिक्षकों की अवज्ञा का जो माहौल चल पड़ा है, वह बढ़ता ही जाएगा। अरुचिपूर्वक किसी तरह पाठ्यक्रम पूरा करा देने पर तो शिक्षक अपनी उपयोगिता और महत्ता में से एक भी बनाए न रह सकेंगे। इसलिए विद्यार्थियों की उन्नति और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने की दोनों दृष्टियों से शिक्षकवर्ग को यह नया क्रम अपनाना ही होगा।

❑❑

शिक्षा ही नहीं दीक्षा भी

गिराना सरल है, उठाना कठिन। एक माचिस की तीली एक छप्पर से आगे बढ़कर पूरे गाँव को स्वाहा कर सकती है। पर उतना बड़ा साधन संपन्न गाँव ज्यों का त्यों खड़ा करने में असाधारण रूप से समय, साधन और श्रम लगाने की आवश्यकता पड़ेगी। छत पर खड़े व्यक्ति को हल्का-सा धक्का देकर जमीन पर गिराया जा सकता है। उसे हाथ-पैर टूटने जैसा आघात लगाया जा सकता है, किंतु कुएँ का पानी नीचे से ऊपर लाने के लिए रस्सी-बाल्टी ही काफी नहीं, तदनुरूप शक्ति नियोजित करने की भी आवश्यकता पड़ती है। वातावरण में अस्वच्छता फैलाना हो तो बिना जड़ की अमरबेल की तरह भी समूचे पेड़ को आच्छादित किया जा सकता है। काई और जलकुंभी देखते-देखते सारे जलाशय पर छा जाती है परंतु उपयोगी कृषि करने के लिए तो भूमि को उर्वर बनाने, बढ़िया बीज डालने, खाद-पानी, रखवाली जैसे अनेक प्रबंध करने की आवश्यकता पड़ती है। यही बात मनुष्य में सत्प्रवृत्तियाँ उभारने के संबंध में भी लागू होती है। उसे अपनाने में नाविक जैसा साहस, कौशल एवं पराक्रम चाहिए, तभी स्वयं नदी पार करना और अन्यों को पार उतारना संभव होता है।

शिक्षक यों देखने में सामान्य वेतन पाने वाले और निर्धारित पाठ्यक्रम के संबंध में कुछ बतलाते रहने वाले श्रमिक भर प्रतीत होते हैं, पर गंभीरतापूर्वक देखा जाए तो उनकी उपयोगिता, आवश्यकता एवं गरिमा असाधारण प्रतीत होती है। उनके ऊपर लदी जिम्मेदारियाँ इतनी भारी प्रतीत होती हैं, जिनको उठाने, इधर-उधर ले जाने के लिए क्रेनों की आवश्यकता पड़ती है। यों शिक्षकों का मोटा काम पाठ्यक्रम पूरा करा देना, छात्रों को उपदेश, परामर्श भर देना प्रतीत होता है, परंतु बात इतने भर से बनती नहीं है। पढ़ाई पूरी करने में सहायता देने वाले तो अब अनेक मार्ग निकल आए हैं।

भविष्य में और भी ऐसी सरलताएँ, सुविधाएँ आविष्कृत हो सकती हैं, जो छात्रों को पाठ पढ़ा देने वाले कार्य का स्थान ले लें। तब हो सकता है कि ऐसी स्थिति में नियुक्त अध्यापकों को ज्यों-त्यों करके अपना समय गुजारना पड़े या आवश्यकता घट जाने पर कोई दूसरा काम तलाशना पड़े ? कम उपयोगी वस्तुओं और व्यक्तियों का भार किसी हद तक कुछ समय तक वहन भर कर लिया जाता है। उन्हें अनिवार्य स्तर की आवश्यकता मानकर, सिर-माथे पर बिठाने जैसा सन्मान और महत्त्व नहीं दिया जा सकता। तिरस्कृत-उपेक्षित अध्यापक को वैसी प्रसन्नता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती जैसी गुरुकुल युग में होती रही और भविष्य में भी होनी चाहिए।

अध्यापक गौरवान्वित हों, उनका उच्चस्तरीय मूल्यांकन किया जाए, अभिभावक उनके प्रति कृतज्ञ रहें, छात्र बड़े अधिकारी या व्यापारी बन जाने पर भी उनके चरणों की धूलि मस्तक पर रखते रहें, यह तभी संभव है, जब अध्यापक, व्यक्तित्वों में प्रतिभा और सुसंस्कारिता उभारने की बढ़ी-चढ़ी जिम्मेदारी वहन करें। भले ही यह कार्य वर्तमान शिक्षा पद्धति का अंग न माना जाता हो, भले ही इसकी अनिवार्यता उनकी वेतन की शर्तों में शामिल न हो, भले ही कानूनी ढंग से उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य न किया जा सकता हो, तो भी उनके पद की गौरव-गरिमा इस बात के लिए विवश करती है कि वे अपने छात्रों का भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए अभिभावकों जितना ही रस लें। अभिभावक शिक्षण कला में प्रवीण नहीं होते। सुसंस्कारिता का महत्त्व उन्होंने नहीं समझा और इसके लिए कोई दिशा धारा भी उन्हें ज्ञात नहीं होती। ऐसी दशा में अनजान होने के कारण अभिभावकों को तो क्षमा भी किया जा सकता है, पर अध्यापक इस जिम्मेदारी से बच नहीं सकते। वे यह कहकर छुट्टी नहीं पा सकते कि उन्हें पाठ्यक्रम पूरा करने भर का वेतन मिलता है।

प्रश्न मानवी मूल्यों के संरक्षण और अभिवर्धन का है। वह स्वभावतः उन्हें ही हल करना होगा, जिन्हें उसके लिए अवसर प्राप्त है। इच्छा या अनिच्छा से उन्हें ही लोक कल्याण की व्यापक दृष्टि से

सोचना पड़ेगा और उसका हल निकालना पड़ेगा। सामने आ खड़ी जिम्मेदारी को स्वयं ही वहन करना होगा, क्योंकि इसका विकल्प है ही नहीं। यह कार्य किसी अन्य विभाग से नहीं कराया जा सकता। इसे नौकरों से नहीं कराया जा सकता, न वैज्ञानिक, इंजीनियर, डाक्टर, वकील व्यवसायी ही इसे पूरा कर सकते हैं, क्योंकि उनका गीली मिट्टी की तरह, कच्ची उम्र के, विकास के लिए उपयुक्त मनोभूमि वाले छात्र वर्ग के साथ निकट का संपर्क ही नहीं बन पाता। बिना संपर्क बने कोई किसी के व्यक्तित्व परिष्कार के लिए कुछ कर भी नहीं सकता।

केवल अध्यापक ही ऐसा वर्ग है, जो नई पीढ़ी को न केवल शिक्षित-साक्षर बनाता है, वरन् अपनी शिक्षक स्थिति के कारण उन्हें सुसंस्कृत भी बना सकता है। किसान ही कृषि कर सकते हैं जुलाहे नहीं, क्योंकि कार्य करने के लिए विषय की प्रवीणता भी चाहिए और अवसर भी। अन्य वर्ग कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, उन्हें वह अवसर प्राप्त नहीं कि व्यक्तित्व के विकास की सही आयु वाले छात्र उनके संपर्क में लगातार बने रहें। यह कार्य धर्मोपदेशक भी नहीं कर सकते, क्योंकि वे थोड़ी देर घटाटोप की तरह बरसकर हवा के साथ उड़ जाते हैं। सिंचाई के लिए तो पौधे के अनुसार समय-समय पर रिमझिम बरसने वाले बादल चाहिए। धर्मोपदेशक, नेता आदि उत्तेजना पैदा करके, बाढ़ जैसा उभार ला सकते हैं, पर वे छात्रों को सुविकसित बनाने वाला वह काम नहीं कर सकते, जो उनके साथ लंबे समय तक रहने वाले, श्रद्धासिक्त अध्यापक कर सकते हैं। इसलिए भावी पीढ़ी को व्यक्तित्व संपन्न, प्रतिभावान, प्रामाणिक एवं प्रखरता संपन्न बनाने की आशा अपेक्षा अन्य किसी वर्ग से नहीं की जा सकती।

महामारी फैलने पर उससे संबंधित विशेषज्ञों और कुशल चिकित्सकों की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। जिनके प्राणों पर बीत रही है, ऐसे रोगी तथा उस परिवार के रोते-कलपते सदस्य अपनी सारी आशाओं का केंद्र चिकित्सक को मानते हैं। उसे भगवान समझ सकते हैं, जो उनके अंधकारमय भविष्य और संत्रस्त वर्तमान को

हटा सकने में समर्थ समझा जाता है। उसके साथ पीड़ित पक्ष की भाव-संवेदना, आशा अपेक्षा पूरी तरह जुड़ जाती है। वे सोचते हैं कि यदि चिकित्सक पूरा ध्यान दें तो उस पीड़ित परिवार की जीवन नौका पार लग सकती है। जिनका समय ही आ गया है, उन्हें छोड़कर अधिकांश को बचा लेने का श्रेय अनुभवी चिकित्सक प्राप्त कर सकता है। इसके बदले निर्धारित फीस के अतिरिक्त जन्म भर याद रहने वाली कृतज्ञता, सद्भावना, उन्हें चिरकाल तक मिलती रहती है। अध्यापक भी ऐसे ही चिकित्सक हैं, जो अनगढ़-टूटे व्यक्तित्वों को श्रेष्ठ समुन्नत बनाने में सहज सफल हो सकते हैं।

इसके विपरीत यदि बीमारी की भयंकरता, महामारी के "हा, हा कार" की 'त्राहि-त्राहि' मची होने पर भी, चिकित्सक उपेक्षा बरतें, समय रहते हुए भी चिकित्सा में प्रमाद बरतें और मौज-मस्ती को प्रधानता दें तो वह व्यवहार हर किसी की दृष्टि में अखरेगा। उससे रोगियों को तो हानि उठानी ही पड़ेगी, चिकित्सक भी निंदा, तिरस्कार का भाजन बनेगा। उसे अपयश भी मिलेगा और वह आत्मसंतोष का लाभ भी नहीं पा सकेगा। इस कारण भविष्य में उसे जन सहयोग भी मिलेगा। स्वार्थी प्रमादी को प्रतिष्ठा कहाँ मिलती है ? उसका सहायक कौन बनता है ? उसके लिए प्रशंसा के शब्द किसके मुँह से निकलते हैं ?

यही बात अध्यापकों के ऊपर भी ज्यों की त्यों लागू होती है। उदीयमान पीढ़ी के बारे में उक्ति है कि "पूत के पांव पालने में ही दीखने लगते हैं।" अगले दिनों छात्रों को देश की बागडोर सँभालनी है, समाज की सुव्यवस्था बनानी है, प्रगति की योजनाएँ साकार करके दिखानी हैं। यदि उनका व्यक्तित्व उच्चस्तरीय नहीं हुआ, तो उन्नत भविष्य की आशा पर तुषारापात हो जाएगा। चरित्रहीन व्यक्ति कितने ही क्रिया कुशल क्यों न हों घटिया स्तर की मनोभूमि के रहते समग्र उत्थान का कार्य पूरा न कर सकेंगे। वे अपनी कृतियों में छिद्र रखेंगे और उन्हीं में होकर, उत्कर्ष की आशा का सार तत्त्व बहा देने का दोष लगता दिखाई देगा। ऐसी दशा में किसी महत्त्वपूर्ण क्षेत्र का कोई महत्त्वपूर्ण कार्य बन नहीं पड़ेगा। यदि ज्यों त्यों करके लोग दिन

गुजारते रहे, प्रगति के वातावरण आधार खड़े न हो सके, तो बदलते समय की बढ़ती माँगों को कैसे पूरा किया जा सकेगा ? उसकी पूर्ति का दायित्व कौन वहन करेगा ?

शिक्षा, साक्षरता, की आवश्यकता से कोई इनकार नहीं करता। वह तो पेट को भोजन देने की तरह, मस्तिष्क को विकसित करने, समझबूझ और कौशल बढ़ाने की दृष्टि से नितांत आवश्यक है। इसे सभी जानते भी हैं और मानते भी हैं। इसी आधार पर समूचा शिक्षा का तंत्र खड़ा किया गया है। अनुभव वृद्धि की दृष्टि से अन्यान्य उपाय भी काम में लाए जाते हैं। यह सब तो यथावत चलने ही चाहिए। वरन् इन प्रयासों में और भी अधिक अभिवृद्धि होनी चाहिए ताकि अधिक सूझबूझ वाले, अधिक सुशिक्षित और क्रिया कुशल व्यक्ति विनिर्मित हो सकें। इतने पर भी यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए, कि यदि व्यक्तित्वों में शालीनता का समावेश न हुआ, दृष्टिकोण का परिष्कार और व्यवहार में सदाशयता का, चरित्रनिष्ठा का पुट न लग सका तो चतुर होते हुए भी लोग खोखले बनकर रह जाएँगे। आदर्शवादिता के अभाव में उस शून्य को भरने के लिए निकृष्टता चढ़ दौड़ेगी, घटियापन बढ़ेगा। उस आधार पर संकीर्ण स्वार्थपरता की आपाधापी भर बढ़ सकती है, सार्वजनिक उत्कर्ष की सुव्यवस्था तो बन ही नहीं सकती।

प्रश्न यह उभरता है कि उच्चस्तरीय व्यक्तित्व, महामानव स्तर की प्रामाणिक, परमार्थ परायण प्रतिभाओं का समुचित निर्माण क्यों नहीं हुआ ? क्यों नहीं हो रहा है ? इसका सहज उत्तर यही बन पड़ता है कि उसके लिए निर्माणकर्त्ता तत्परता के साथ संलग्न नहीं हुए। बनाए बिना भी कोई वस्तु क्या अपने आप बनती है ? बनाने का समुचित प्रयास नहीं हुआ तो न बनाने की शिकायत तो रहनी ही थी ?

विस्तार पर ध्यान नहीं दिया गया तो देश में अन्न संकट पैदा हो गया था। उसे दूर करने के लिए हरित क्रांति के रूप में व्यापक अभियान चलाया गया, तभी उसे दूर करने के लिए बड़े-बड़े बाँध से लेकर छोटे-छोटे ट्यूबवेलों तक के विकास पर शक्ति लगानी पड़ी।

इसी तरह श्रेष्ठ व्यक्तित्वों के अकाल को दूर करने के लिए भी सुनिश्चित प्रयास करने ही होंगे।

व्यक्ति और समाज के निर्माण में शासकों, विचारों, साहित्यकारों, कलाकारों, सुसंपन्नों आदि का अपने ढंग का योगदान हो सकता है। वे जैसा कुछ भला-बुरा सोचते हैं, उसका परिणाम भी सामने आता है। उन सबको भी नवसृजन के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। इतने पर भी प्रधान जिम्मेदारी अध्यापक की ही बनती है। हर किसी की आशा का केंद्र बिंदु वहीं आकर जमता है। वह केवल पाठ पढ़ाकर ही छुटकारा न पाए। गुरुजनों, अभिभावकों जैसी व्यवस्था बनाने, वातावरण पैदा करने में रुचि लें, तो इस गई-गुजरी स्थिति में भी बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। अभी भी उसके हाथ में जो अवसर शक्ति, सुविधा और समय है, उसका उपयोग करें तो प्रयोजन सध सकता है। पाठ्यक्रम पूरा कराने के साथ ही साथ छात्रों का व्यक्तित्व उभारने, प्रतिभा निखारने और उन्हें आदर्शों के प्रति निष्ठावान बनाने में पर्याप्त सफलता मिल सकती है। शिक्षा के साथ दीक्षा का समन्वय इसी को कहते हैं। जिन अध्यापकों ने भी इस दिशा में संकल्पपूर्वक कदम उठाए हैं, वे पूरी तरह सफल होकर रहे हैं। उन्हें इस दिशा में सक्रिय होने से लाभ ही लाभ मिले। वेतनमान तो जो था वह रहा ही, उसमें तो कमी होनी ही नहीं थी। साथ में लोक सम्मान, यश और आत्म-संतोष अतिरिक्त मिला। सारे क्षेत्र में वे प्रचुर सम्मान और सहयोग पाते हुए सुखी जीवन जी सके।

❑❑

सत् संकल्प पूरे किए जा सकते हैं

महान देशभक्त स्वर्गीय राजा महेंद्र प्रताप बहुत समय तक सोचते रहे कि देश को आजाद कराने और समुन्नत स्तर तक पहुँचाने के लिए क्या किया जाए ? क्या उपाय अपनाए जाने चाहिए ? अनेक दृष्टिकोणों से अनेक योजनाएँ बनाते रहने के उपरांत वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि महान कार्य संपन्न करने के लिए महामानव स्तर की प्रतिभाएँ चाहिए। उन्हें कहाँ पाया जाए ? उत्तर था कि ऐसे लोग बने-बनाए कहीं नहीं मिलते, न वे कहीं से आयात किए जाते हैं। पुराने समय के कुछ लोग वैसे रहे भी हों तो उनकी आयु ढल जाने पर कार्य शक्ति नहीं रहती। पुरुषार्थ तो उठती और परिपक्व आयु में ही करते बन पड़ता है। इसे नव-युवकों में ही पाया जा सकता है। वे भी कहीं विनिर्मित नहीं मिलते। अपनी आवश्यकता के अनुरूप समय की माँग को देखते हुए अपने ढंग से अपने ढाँचे में ढाले जाते हैं। इसलिए एक ऐसा विद्यालय खोला जाना चाहिए, जिसमें न केवल प्रचलित सामान्य शिक्षा दी जाए वरन् प्रतिभाएँ ढालने का काम भी साथ-साथ चले। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति इसी प्रयोजन के लिए दान कर दी और प्रेम महाविद्यालय नाम से एक विद्यालय वृंदावन में खड़ा किया गया।

इमारत को विद्यालय तो कहा जाता है, बोर्ड भी वैसा ही लगता है पढ़ाने का साज सरंजाम एवं पाठ्यक्रम भी सभी में प्रायः मिलता-जुलता ही होता है। इसकी न्यूनाधिकता से कुछ बहुत फर्क नहीं होता। असल बात है शिक्षा का स्तर, उनकी आदर्शवादिता और छात्रों को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढालने की लगन। डाक्टर संपूर्णानंद जो बाद में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री और राजस्थान के राज्यपाल बने, उसी विद्यालय में अध्यापक थे। इसी स्तर के आचार्य जुगलकिशोर जी बाद में उत्तर प्रदेश सरकार में शिक्षा मंत्री बने। प्रो० कृष्ण चंद्र जो लंबे समय तक केंद्रीय पार्लियामेंट के सदस्य रहे,

वे और इसी स्तर के अन्यान्य अध्यापक भी थे, वे सब विद्यालय के छात्रों के साथ इस प्रकार गुँथ गए कि कीट भृंग की किंबदंती चरितार्थ हुई। पढ़ने वाले आजादी के दीवानों के ढाँचे में ढल गए। सत्याग्रह आंदोलन आरंभ हुआ। प्रेम महाविद्यालय के पुराने और वर्तमान के सभी छात्र उसमें कूद पड़े। प्रांत का आंदोलन अग्रणी रहा। उसमें इन छात्रों की भूमिका ही प्रमुख थी। अंग्रेज सरकार को पता चला तो सभी नए पुराने छात्र ढूँढ़-ढूँढ़कर गिरफ्तार कर लिए गए। विद्यालय सील किया गया उसकी संपत्ति जब्त की गई। इसे कहते हैं पढ़ाई-ढलाई।

यही विचार अनेकों के मन में कौंधा। योगी अरविंद ने कलकत्ता में नेशनल कॉलेज बनाया, तो बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने काशी विद्यापीठ, सरदार पटेल के प्रयत्न से गुजरात विद्यापीठ बनी। स्वामी श्रद्धानंद ने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की। इन सभी संस्थानों में अध्यापक इस स्तर के नियुक्त किए गए, जो पेट भरने के लिए नहीं, कुछ कर दिखाने की लगन लेकर योग्यता से कहीं कम वेतन लेकर टकसालों में खरे सोने के सिक्के ढालने में लगे रहें।

प्राचीन काल में देश-विदेशों में बौद्धिक क्रांति करने के लिए नालंदा विश्वविद्यालय और तक्षशिला ने महती भूमिका निवाही उन्होंने कुमार जीव जैसे प्रचंड प्रतिभा के धनी धर्म-प्रचारक ढाले, जिसकी यश गाथा सुनते-सुनते जी नहीं भरता।

अत्यावश्यक नहीं कि इस स्तर के संस्थान बनाने चलाने में आरंभिक पूँजी जुटाने के लिए सरकार का मुँह ताकना पड़े या धनी मानियों के सामने अनिवार्य रूप में पल्ला पसारने पड़े। अध्यापकों का स्तर उनके विद्यालयों के लिए न केवल पर्याप्त छात्र जुटा देता है वरन् आवश्यक साधन भी अपने चुंबकत्व से खींचकर बुला लेता है। राजस्थान के श्री हीरालाल शास्त्री ने एक पेड़ के नीचे बैठकर थोड़ी-सी कन्याओं को स्वयं पढ़ाना शुरू किया था। ख्याति फैली तो थोड़े ही दिनों में वहाँ विश्वविद्यालय स्तर का वनस्थली विद्यालय बनकर खड़ा हो गया। शेखावटी के स्वामी केशवानंद अल्पशिक्षित होते हुए भी उस इलाके में गाँव-गाँव प्राथमिक विद्यालयों से लेकर

कालेजों तक की शृंखला खड़ी करने में सफल हुए दोनों ही सज्जनों को जनता ने सिर नेत्रों पर बिठाया। हीरालाल शास्त्री राजस्थान के मुख्यमंत्री रहे और स्वामी केशवानंद लंबे समय तक केंद्रीय लोकसभा के सदस्य रहे। उत्तर प्रदेश राठ-हमीरपुर में ब्रह्मानंद विद्यालय प्रसिद्ध है। आगरा जिले में बाबा दूधाधारी द्वारा स्थापित कालेज का इतिहास भी इसी प्रकार का है। अलीगढ़ जिले के सासनी गाँव में लक्ष्मी देवी ने अपने बलबूते जंगली, झाड़-झंखाड़ों को काटकर कन्या गुरुकुल खड़ा किया। ऐसे असंख्य उदाहरण हैं, जिनमें जीवट वाले व्यक्तियों ने न केवल स्वयं अध्ययन कार्य किया वरन् अध्यापक साधनों को भी जुटाया।

बात जीवट की चल रही है। यदि उसका अस्तित्व मौजूद हो तो साधन भी जुटाए जा सकते हैं और छात्रों के व्यक्तित्व अध्यापकों के ढाँचे में ढल सकते हैं। इस संदर्भ में स्वामी श्रद्धानंद का उल्लेख विशेष रूप से करना पड़ता है। उन्होंने ने केवल अपना घर बेचकर छप्पर के नीचे दस विद्यार्थियों को लेकर विद्यालय चलाया वरन् छात्रों को लोक सेवी बनाने की दिशा में भी बहुत कुछ कर दिखाया। उस विद्यालय के आरंभिक छात्रों में से अधिकांश ऐसे रहे जिन्होंने देश का गौरव बढ़ाने वाले एक से एक बढ़कर काम किए। विनोबा के पवनार आश्रम ने भी अनेक सर्वोदयी कार्यकर्त्ता राष्ट्र को प्रदान किए। मथुरा का चंपा अग्रवाल कालेजों का भी ऐसा ही इतिहास है, जो प्राथमिकशाला से बढ़ते-बढ़ते डिग्री कालेज तक पहुँचा। इसकी प्रगति के पीछे मास्टर जगदीश प्रसाद की लगन ही महती भूमिका आदि से अंत तक निभाती रही। महर्षि कर्वे का महिला विद्यालय प्रसिद्ध है। प्रयाग महिला विद्यापीठ भी अपने संस्थापकों की यश गाथा गाती रहेगी, इन उदाहरणों के माध्यम से कहा इतना भर जा रहा है कि जीवट वाले अध्यापक विद्यालय की आवश्यक साधन सामग्री ही नहीं जुटा लेते वरन् छात्रों को भी कुछ से कुछ बता देते हैं। अरस्तू, सुकरात, कन्फ्यूसियस ऐसे ही प्रतापी अध्यापक थे। सुदामा के गुरुकुल की आर्थिक कठिनाइयों का समाधान करने के लिए कृष्ण ने अपनी द्वारिका वाली समूची संपदा सुदामा पुरी में स्थानांतरित कर दी थी। चाणक्य मूलतः अध्यापक ही थे, शासन के

प्रधान मंत्री गौण रूप से ही रहे। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के संदीपन ऋषि के गुरुकुल ऐसे थे, जिनमें पढ़कर राम और कृष्ण भगवान रूप में प्रख्यात हुए। गोपाल कृष्ण गोखले राजनैतिक क्षेत्र में बहुत कुछ करते हुए भी मूलतः शिक्षा-सवंर्धन के लिए समर्पित रूप से जुटे रहे।

आवश्यक नहीं कि सभी अध्यापक उपरोक्त उदाहरणों का अनुगमन करें, उतने ही बड़े कदम उठाएँ, पर यह तो हो ही सकता है कि वे वेतन की शर्तों के साथ जुड़ी हुई निर्धारित प्रक्रिया को ज्यों का त्यों करके पूरा न करते रहे, वरन् अपने सांस्कृतिक गौरव को भी समझें। अपने विशेष सम्मान भरे पद के अनुरूप विशिष्ट उत्तरदायित्वों को समझें और उन्हें पूरा करने के लिए अतिरिक्त रूप से भी कुछ न कुछ करते रहें।

अध्यापक वर्ग में से जिनके भी अंतःकरण में यह प्रेरणा उभरे कि उन्हें सौंपे हुए छात्रों के व्यक्तित्व निखारने और भविष्य उज्ज्वल बनाने हैं तो उन्हें उसके प्रति अभिभावक स्तर की ममता उभारनी पड़ेगी, पढ़ाने की चिह्न पूजा तक सीमित न रहकर, उन्हें स्नेहासिक्त आत्मीयता के बंधनों में बाँधना पड़ेगा। जहाँ ऐसी स्थापना होगी वहाँ छात्र भी उनके प्रति सघन श्रद्धा व्यक्त करने में पीछे न रहेंगे। अनुशासन तोड़ने की शिकायत उत्पन्न न होने देंगे। छात्रों की उच्छृंखलता के अनेक कारणों में से यह भी एक है कि उन्हें संरक्षकों से आवश्यक दुलार, प्रोत्साहन, मार्गदर्शन नहीं मिलता। कोरे उपदेश एक कान से सुन जाते हैं और दूसरे कान से बाहर निकाल दिए जाते हैं। भावना ही हृदय के मर्म स्थल तक पहुँचती हैं। यदि संबद्ध छात्रों को अध्यापकगण आत्मीयता की जंजीर में जकड़े रहें तो वे भी रस्सी तुड़ाकर भागने और मनमानी करने की धृष्टता धारण न करेंगे। इस तथ्य की यथार्थता को कोई कहीं भी, कभी भी जाँच सकता है।

इस आधार को अपनाने पर स्वभाव में कुछ प्रारंभिक परिवर्तन करने होते हैं। उनमें से एक यह है कि सदा सौम्य स्वर अपनाया जाए। जो भी कहा जाए शांतिपूर्वक मधुर स्वर से कहा जाए। मुद्रा हँसती-मुस्कराती रखी जाए। अन्यान्यों की तरह छात्रों को भी सम्मान

दिया जाए उनके गुणों की प्रशंसा भी समय-समय पर करते रहा जाए। भले ही वे गुण थोड़े या हल्के ही क्यों न हों। उत्तेजित, आवेश ग्रस्त, कर्कश स्वर में कुछ भी नहीं कहा जाना चाहिए। उपयुक्त बात को भी अनुपयुक्त ढंग से नहीं कहा जाना चाहिए। उठती आयु के बच्चे बहुत संवेदनशील होते हैं। उन्हें अपने आत्म सम्मान में थोड़ी सी चोट पड़नी भी सहन नहीं होती। कुछ और भले ही न मिले पर आदर और दुलार की अनुभूति तो होनी ही चाहिए। हित-अनहित समझने की दूरदर्शिता उनमें नहीं होती। वे अपना पराया समझने का निर्णय इस आधार पर करते हैं कि किसने कितने मीठे स्वर में बात की, किसने कड़वे-कर्कश स्वर में ?

दुलार तिरस्कार का, मानापमान का, अनुभव बालक बहुत छोटी आयु से ही करने लगते हैं। ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं, यह संवेदनशीलता और भी बढ़ जाती है। आत्म निरीक्षण का माद्दा विकसित न होने के कारण वे किसी का वास्तविक उद्देश्य तो समझ नहीं पाते। बाह्य व्यवहार को ही सब कुछ मान बैठते हैं और उसी आधार पर किसी को हितैषी, विद्वेषी मान लेते हैं। जिसे हितैषी समझते हैं उसके लिए कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। विद्वेषी होने का भान होने पर विदक और उचट जाते हैं। ऐसी दशा में परामर्श मानना कैसे बन पड़ेगा ? कुनैन की गोली, चीनी की चासनी चढ़ाकर पानी के सहारे गले उतरवाई जाती है। ऐसी चतुरता विशेषतया बालकों के, किशारों के साथ तो बरती ही जानी चाहिए। इतना अपना सुधार करने के उपरांत ही सलाह देने, मार्ग-दर्शन करने की बात मानी अपनाई जाने की आशा करनी चाहिए।

आत्म भाव बताने का एक और सरल तरीका यह है कि अध्यापक अपने छात्रों के नाम याद रखें और यथा अवसर उन्हें नाम लेकर पुकारें। गोत्र लगाया जाता हो तो उसे भी लगाएँ। नाम के अंत में जी का प्रयोग करें। छोटों को सम्मान देने में बड़ों की हेठी नहीं होती वरन् उनका मन जीतने की यह एक अच्छी पद्धति है। इससे अपनी आदत सुधरती है और जिसे संबोधित किया गया है उसे प्रसन्नता होती है। स्मरण शक्ति कमजोर हो तो डायरी में हुलिया

और नाम की संगति नोट कर ली जाए, इतने भर से नाम और रूप की संगति बैठ जाती है और नाम लेकर पुकारने में जो कठिनाई प्रायः आती है वह सहज ही दूर हो जाती है।

वार्तालाप जिस भी विषय पर करना हो उसका सिलसिला चालू रखते हुए भी यह किया जाना चाहिए कि उसकी अच्छाइयों, सफलताओं, सराहनीय क्रियाओं को ध्यान में रखा जाए और उनकी चर्चा का पुट लगाते रहा जाए। इतने भर से विद्यार्थी अपने मार्गदर्शक के प्रति आत्मीयता जोड़ लेता है, श्रद्धा बढ़ाता है और परामर्श मानता है। इस आधार पर उसके सुधार वाली बात को क्रमशः आगे बढ़ाया जा सकता है।

इस सबके लिए बाहर से साधन बढ़ाने की नहीं अंतरंग साधना बढ़ाने की आवश्यकता है। साधना संपन्न शिक्षक जब संकल्प लेकर आगे बढ़ता है तो आवश्यक साधन भी जुटने लगते हैं। साधनों का अभाव ऐसे मनस्वियों के संकल्प में न कभी बाधक बन सका है और न भविष्य में बाधक बन सकेगा। जिन भावनाशील अध्यापकों के मन मस्तिष्क में ऐसे संकल्प उभरें, वे कुछ कर गुजरने में झिझकें नहीं। सीमित मात्रा में ही करें, पर सुनिश्चितता के साथ करें, तो समय की महती आवश्यकता की पूर्ति का एक नया चक्र प्रारंभ हो सकता है।

❑❑

अध्यापकों और छात्रों के बीच सघन संपर्क बने

अभिभावकों और बालकों के बीच आत्मीयता का सघन संबंध होता है। इसी से प्रेरित होकर वे बालकों के लिए सभी आवश्यक साधन-सामग्री जुटाते रहते हैं। आवश्यक काम छोड़कर भी उन्हें प्रसन्नता प्रदान करने के लिए खिलाते, दुलारते हैं। उनके नटखटपन पर क्रोध न लाकर उसे दर गुजर करते रहते हैं, यथासंभव समझाते-बुझाते रहते हैं, विवेक जगाते और औचित्य-अनौचित्य का भेद समझाते रहते हैं। उनका भविष्य उज्ज्वल होने की आशा लगाए रहते हैं, कमियों को दूर करते हैं। खीज और निराशा से ग्रसित नहीं होते, वरन् आस्थापूर्वक अपने पक्ष का कर्त्तव्य पालन करने में कुछ उठा नहीं रखते, भले ही बालक उपेक्षा अवमानना ही क्यों न बरतते रहें। जिस हद तक संभव है, वे उन्हें सुयोग्य समुन्नत बनाने की आशा ही नहीं सजोए रखते, वरन् इस संदर्भ में जो कुछ बन पड़ता है उसे कर दिखाने में भी भूल नहीं करते। वे जानते हैं कि बच्चे के बनने-बिगड़ने में उन्हें भी श्रेय या अपयश मिलने वाला है। इसलिए बच्चों की अनुपयुक्त प्रतिक्रिया दीख पड़ने पर भी अपने पक्ष पर आँच नहीं आने देते।

अभिभावकों से बढ़कर दायित्व अध्यापकों का है, क्योंकि जो क्षमता, परिस्थिति एवं सहज श्रद्धा उन्हें उपलब्ध है, वह अभिभावकों के पास प्रायः नहीं ही होती है। छात्रों के उत्थान-पतन में वे भी समान रूप से भागीदार माने जाते हैं। जिस कक्षा का रिजल्ट खराब हो जाता है, उसके संबंध में शिक्षकों से जबाव-तलब किया जाता है। दोषी पाए जाने पर उन्हें तबादले का, पदावनति का तथा दूसरे प्रकार का दंड दिया जाता है। यों कसूर अधिकतर विद्यार्थियों का ही होता है। प्रायः मन लगाकर न पढ़ने के कारण ही वे फेल होते हैं। तो भी विषय को आकर्षक बनाकर व छात्रों में दिलचस्पी पैदा न कर सकने की अक्षमता के कारण अध्यापकों की भी भर्त्सना होती है।

छात्रों की ओर से, अभिभावकों की ओर से, अधिकारियों की ओर से उन्हीं की खिंचाई होती है।

यों साधारणतया अध्यापक ऐसी दुर्घटनाओं में अपनी कोई खोट नहीं देखते और अपने संबंध में निर्दोष होने की मान्यता रखकर, मन ही मन झुँझलाते, खींजते रहते हैं तो भी यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो उन पर यह आरोप होता है कि असफल छात्रों की गतिविधियों में कहाँ कब कमी रही है ? इसका अनुमान वे न लगा सके। उस कमी को दूर करने के लिए जो उपाय संभव थे, उसके संबंध में न तो निर्धारण कर सके और न उन्हें चरितार्थ करने के लिए कोई कारगर कदम ही बढ़ा सके।

छोटी-सी गलतियाँ होने पर भी बड़ों को ही उनका दोषी बनाए जाने का आम प्रचलन है। बच्चों की शरारत पर पड़ोसी उनके माँ-बाप से ही लड़ने लगते हैं, कि तुम्हीं लोगों ने बच्चों को सिर पर चढ़ाया और बिगाड़ा है। उन्हें ही खरी-खोटी सुननी पड़ती है। यहाँ तक कि कई बार तो हाथा-पाई, मार-पीट तक की नौबत आ जाती है। वधू का कसूर उसके पति पर थोपा जाता है कि वह उसे क्यों कायदा करना न सिखा सका ? यहाँ तक, कि किसी के पालतू कुत्ते द्वारा किसी राहगीर को काट लिए जाने पर, उसके मालिक की खबर ली जाती है। यही बात अनगढ़ कुसंस्कारी बच्चों के संबंध में भी है। फेल होने पर तो अध्यापकों का सिर नीचा होता ही है, पर यदि उनमें दोष-दुर्गुण पनपते हैं, कुसंस्कारिता उभरती है तो प्रकारांतर से उसका दोष अभिभावकों की तरह अध्यापकों पर भी कम नहीं आता। बच्चों का सुधार और अपना बचाव करने के दोनों उद्देश्य तभी पूरे होते हैं, जब उस संदर्भ में समुचित सावधानी बरती जाए और सुधार परिष्कार का प्रयास संपर्क काल में निरंतर करते रहा जाए।

इस प्रयास की पृष्ठभूमि इस आधार पर बनती है कि शिक्षार्थी और शिक्षक के बीच पारस्परिक संबंध कैसे, किस स्तर के रह रहे हैं ? यदि दोनों पक्ष भाव-संवेदनाओं में बँधे रह सकें, तो सुधार प्रयोजन सहज ही पूरा होता रहेगा, प्रगति प्रयासों को भी सफलता

मिलेगी। साथ ही पढ़ने-पढ़ाने का सिलसिला भी इस प्रकार चल पड़ेगा, जिसकी उत्साहवर्धक सफलता सहज ही उपलब्ध हो सके।

इस ओर अग्रसर होने के लिए प्रथम कार्य यही सामने आता है कि छात्रों और शिक्षकों के बीच किसी प्रकार संबंध मधुर हों। यदि इतना बन पड़े तो समझना चाहिए कि द्वार खुल गया और समस्याओं को सुलझाने वाला आधार बन गया। इसके लिए किसी अतिरिक्त कौशल की आवश्यकता नहीं है। गाय दूध देती है, बछड़ा पीता है। इसलिए पहले शिक्षकों की ओर से ही इतना अपनत्व विकसित किया जाए कि वह छात्रों को अनुभव होने लगे। यथार्थता *छिपती नहीं। पोल बनावट की ही खुलती है। इसलिए हर शिक्षक को* यह मानकर चलना चाहिए कि छात्र उनके अपने बालक हैं। अभिभावकों की तरह उनके हित-अनहित का ध्यान उन्हें भी रखना है। भार वहन उन्हें ही करना है। सुधार परिष्कार के संबंध में उनकी जिम्मेदारी दूनी है। अभिभावक तो दुलारने और अर्थ-व्यवस्था जुटाने भर तक सीमित कार्य कर पाते हैं। जिस स्थिति में वे हैं, उसमें इससे अधिक की कोई आशा भी नहीं की जाती। एक हाथ में लकवा या पोलियो हो जाने पर दूसरा हाथ ही दोनों के बदले का काम अकेला ही करता है। लंगड़ा व्यक्ति लकड़ी की टाँग लगाकर भी एक पैर से चल लेता है। अध्यापकगण अपने को ऐसी परिस्थितियों से बँधा हुआ अनुभव करें। अभिभावकों से जितना बने उससे संतोष करें। अधिक दायित्व निभाने के लिए उनका मार्गदर्शन करते रहें। छात्रों की तरह उनके अभिभावकों को भी स्वयं सुधरने और उसकी छाप बालकों पर छोड़ने की प्रेरणा देनी चाहिए। जो उन्हें करना चाहिए, जो रीति-नीति अपनानी चाहिए, इसका मार्गदर्शक, विचारशील अध्यापकों से बढ़कर और कोई हो नहीं सकता।

गलती करने पर कड़ी डाँट पिलाने या भर्त्सना करने का तरीका गलत है। इसकी प्रतिक्रिया विवाद, प्रतिरोध, दुराग्रह के रूप में सामने आती है। पुराने-जमाने में बाप-बेटे को, सास-बहू को, शिक्षक-छात्र को गलतियों पर धमकाने, अपशब्द कहने और मारने पीटने तक के अभ्यस्त रहते थे। उनका दूसरी ओर से कोई बड़ा

प्रतिरोध भी नहीं होता था, पर अब समय बदल गया है। हर किसी में अहमन्यता अत्यधिक बढ़ गई है। कोई किसी भी कारण अपनी निंदा-भर्त्सना नहीं सुनना चाहता। मारपीट, गाली-गलौज जैसी बात को तो समय ही नहीं रहा। इससे सुधार के स्थान पर मार्गदर्शक को उलटे विद्रोह-प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा। बदला लेने को उतारू पक्ष से मूँछें नीची करके किसी प्रकार समझौता करना पड़ेगा। इस स्थिति को आने न देना ही श्रेयस्कर है। समझना चाहिए पुराना समय चला गया साथ ही प्रताड़ना देकर अनुशासन बनाए रखना भी असंभव हो गया है।

अब नैतिक मूल्यों के जीवन में समावेश हेतु छात्रों को सहमत करने का प्रसंग आता है। प्रत्यक्ष विश्व व्यवस्था के यों तो अनेक पक्ष पाठ्यक्रमों में सम्मिलित हैं। बालकों की आयु और व्यवस्थाओं में अनुरूप उन जानकारियों का विस्तार होता चलता है जिन्हें अध्यापकगण जानते भी हैं और सिखाते भी हैं। प्रशिक्षण-ट्रेनिंग विद्यालयों में उन्होंने इस विधि को भली प्रकार जाना भी है। पुस्तकों की कुंजियाँ भी मिलती हैं। यह ढर्रा तो अपनी पटरी पर लुढ़कता ही रहता और फेल पास होते-हवाते विद्यार्थी भी सब जान ही लेते हैं। न जानने या कम जानने पर इतनी ही हानि है कि उपयुक्त पद पर नियुक्त न हो सके। इस स्थिति में भी व्यक्ति मजदूर फेरी, उद्योग आदि अपनाकर, किसी प्रकार अपना गुजारा कर ही लेता है। इन पंक्तियों में ध्यान उस केंद्र पर आकर्षित किया गया है, जिसमें कमी रहने पर व्यक्ति स्वयं गई-गुजरी स्थिति में रहता है और अपने संपर्क क्षेत्र को भी उलझाता, सताता रहता है। यह केंद्र है नीति निष्ठा का, जिसके अंतर्गत व्यक्तित्व की आदर्शवादिता और लोक व्यवहार में शालीनता आती है। इसे दूसरे शब्दों में नागरिकता एवं सामाजिकता भी कह सकते हैं। इसके कुछ थोड़े-से संदर्भ पाठ्य-पुस्तकों में पाए तो जाते हैं, पर यह नहीं बताया जाता कि इन्हें जीवन में, कार्य में कैसे समाविष्ट किया जाए ? अवरोधक दुष्प्रवृत्तियों को निरस्त कैसे किया जाए, ताकि व्यक्तित्व को प्रतिभा संपन्न बनाने का अवसर मिले ?

इसी प्रकार समाज के साथ उच्चस्तरीय अनुबंधों में बँधकर कैसे रहा जाए ? ऐसा व्यवहार कैसे बनाया जाए, जिसमें आत्मसंयम का निरंतर रसास्वादन होता रहे और लोक सम्मान एवं सहयोग विपुल रूप में उपलब्ध होता रहे ? गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार कर लेने पर व्यक्ति अपने लिए, परिवार के लिए, समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यह सब इस प्रकार समझाया जाना चाहिए जिसमें गहरे तर्क, प्रभावोत्पादक तथ्य और उन उदाहरणों की भरमार हो, जिनमें आदर्श अपनाने पर मिलने वाले अनेकानेक लाभों का विस्तारपूर्वक वर्णन हो। साथ ही यह भी बताया जाए कि सद्गुणों की, सत्प्रवृत्तियों की उपेक्षा अवहेलना करने पर व्यक्ति किस प्रकार अनगढ़ बना रहता है और पतनोन्मुख परिस्थितियों के दल-दल में फिसल जाता है ? वस्तुतः यही शिक्षा का प्राण है। इसे हृदयंगम न कर पाने पर ही व्यक्ति अपने लिए ही नहीं परिवार और समाज के लिए भी अभिशाप बनकर रहता है। इस संजीवनी विद्या को सर्वसाधारण के अंतराल में बिठाने की हिमायत यहाँ की जा रही है। विशेषतया अध्यापकों पर यह दबाव डाला जा रहा है कि अपने परिकर के शिक्षार्थियों को जीवन कला के संदर्भ में प्रवीण, पारंगत बनाएँ।

जानकारी, सुदूर क्षेत्रों की ओर आए दिन काम में न आने वाले विषयों की भी प्राप्त की जा सके तो हर्ज नहीं। अधिक जानना अधिक अच्छा होता है, पर देखना यह भी है कि आकाश-पाताल का ब्यौरा बटोरने की धुन में कहीं दैनिक जीवन के साथ गुंथी हुई उन समस्याओं की उपेक्षा न होने लगे, जिनके अभाव में शांतिपूर्ण या प्रगतिशील जीवन जी सकने की बात ही नहीं बनती। शारीरिक स्वच्छता, मानसिक संतुलन, अर्थ का उपार्जन, उपयोग, परिवार का सौमनस्य, सामाजिक आदान-प्रदान, मान्यताएँ और आस्थाएँ, प्रथा और परंपराएँ आदि प्रसंग ऐसे हैं, जो जीवन को असाधारण रूप से प्रभावित करते हैं। यदि किसी के पास इन विषयों की समुचित जानकारी नहीं है और इन क्षेत्रों में आती रहने वाली अनेकानेक उलझनों को भली प्रकार सुलझा सकने की क्षमता नहीं है, तो उसे गये-गुजरे स्तर का जीवन रोते-कलपते, खीजते-खिजाते जीना पड़ेगा।

ऐसा आजकल हर तरफ होता देखा जा सकता है। कारण यही है कि जिन विषयों की जानकारी की आवश्यकता थोड़े-से गिने-चुने लोगों को पड़ती है, वे विषय सबको पढ़ाए, रटाए जा रहे हैं, परंतु जिन विषयों-अभ्यासों की आवश्यकता जीवन के हर क्षेत्र में, प्रत्येक कदम पर है, उनके लिए कोई व्यवस्था नहीं बन सकी है। ऊपर दर्शाए गए वे विषय उपेक्षा में ही पड़े हुए हैं।

इन विषयों को अनिवार्य स्तर की प्राथमिकता मिलनी ही चाहिए। यदि उनका समुचित समावेश पाठ्यक्रमों में नहीं हुआ है तो उन्हें विचारशील अध्यापकों को अपनी ओर से पढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस महत्त्वपूर्ण दायित्व से अध्यापक वर्ग मुक्त नहीं हो सकता। जब तक व्यापक स्तर पर इस दिशा में व्यवस्था नहीं होती, तब तक 'कुछ न होने से कुछ भला' की नीति अपनानी होगी। शिक्षकों को अपने स्तर पर, यह भूमिका स्वतः हाथ में लेनी होगी।

❑❑

समय की महती आवश्यकता और उसकी आपूर्ति

संजीवनी विद्या का, व्यवहारिक जीवन में आदर्शवादिता के सरल समन्वय का कार्य क्षेत्र अत्यंत ही विशद् है। इस प्रयास को कथा-पुराणों के आधार पर समझाने का प्रयत्न धर्मोपदेशकों के द्वारा किया जाता रहा है, किंतु वह प्रयत्न अतिवादिता से, अव्यवहारिकता से भरा होता है। कहने-सुनने में भले ही अच्छा लगता हो, उससे कुछ काम भले ही चलता हो, पर ऐसा नहीं कि कोई मध्यवृत्ति एवं औसत परिस्थितियों के लोग उन्हें काम में ला सके। पथ प्रदर्शन में सामयिक समस्याओं और परिस्थितियों पर ध्यान देना होता है। पुरातन काल में परिस्थितियाँ भी दूसरी थीं और कठिनाइयाँ, समस्याएँ भी दूसरी। दृष्टिकोण उन दिनों अपने ढंग का था। इसलिए जो समाधान धर्मोपदेशकों द्वारा सुझाए जाते हैं, वे आदर्शों की दृष्टि से सराहनीय होने पर भी व्यावहारिकता के साथ जुड़ सकने जैसे नहीं होते। फिर उनमें बिखराव भी बहुत है। एक प्रसंग को एक तारतम्य में तर्क, तथ्य प्रमाण और उदाहरण के आधार पर समझा देना आज की बौद्धिकता में अनुकूल पड़ता है। जो बात कही जाए उसका आदि से अंत तक निर्वाह हो, तभी किसी तथ्य का समझना-समझाना लाभप्रद होता है। अनेक विषयों का विहंगावलोकन करते हुए कुछ बातों का उल्लेख करना और फिर उन्हें अधूरी छोड़कर किसी अन्य विषय पर भी इसी स्तर की चर्चा करने लगना एक-एक कौतुक-कौतूहल जैसा हो जाता है। अब तक के प्रवक्ता अत्यधिक गंभीर, महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक जीवन कला को जिस-तिस रूप में इसी प्रकार व्यक्त करते रहे हैं। इसका निष्कर्ष देखते हुए यही कहा जा सकता है कि हवाई उड़ानें उड़ाई जाती रही हैं। विषय के हर पक्ष पर गहरा और सुविस्तृत प्रकाश डालने वाले प्रयत्न कम ही हुए

हैं। ऐसा साहित्य भी बहुत कुछ खोजने पर छुट-पुट रूप में जहाँ-तहाँ ही मिलता है। अरस्तू, सुकरात, कांट, कन्फ्यूशियस जैसे दार्शनिक भी अब नहीं दिखते, जो मात्र जीवन का व्यवहार पक्ष समझाने के लिए पाठशालाएँ चलाएँ। उसकी उच्चस्तरीय उपयोगिता समझें, चिंतन की गहराई में उतरें, अपने ज्ञान और अनुभव की पूँजी बढ़ाएँ और उसे अपने शिष्यों को उपेक्षापूर्वक नहीं वरन् इतनी तन्मयता, आत्मीयता के साथ पढ़ाएँ कि पढ़ने और सुनने वाले के अंतराल में वह जड़ जमाकर बैठ जाए। सुनने वाला उसी ढाँचे में ढल जाए।

विषय के महत्त्व और उसे समझने-समझाने के लिए उपयुक्त प्रतिपादन उपलब्ध न होने पर आज के शिक्षक की जिम्मेदारियाँ और भी अधिक बढ़ जाती हैं। निर्धारित पाठ्यक्रम पढ़ा देना सरल है, क्योंकि उसके लिए पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध हैं। अड़चन पड़ने पर कुंजियों से सहायता ली जा सकती है। फिर पढ़ाने की शैली उन टीचर ट्रेनिंगों में भी उपलब्ध है, जिनमें उत्तीर्ण होने के उपरांत ही शिक्षकों की नियुक्ति होती है, पर ऐसी कोई समग्र सुविधा जीवन कला के संबंध में कहीं देखने को नहीं मिलती। उसका तारतम्य तो अपने बलबूते बिठाना पड़ता है। दूसरे तो इस संबंध में हल्का-फुल्का परामर्श ही दे सकते हैं, रीति-नीति, दिशाधारा मात्र बता सकते हैं, पर उसमें पात्रता के अनुरूप किस छात्र को क्या बताया जाए ? यह निष्कर्ष निकालना विचारशील अध्यापक का ही काम है।

नैतिक शिक्षा की इन दिनों बहुत चर्चा है, पर वह भी दिशा संकेत मात्र है। उसमें कम से कम स्काउटिंग, फर्स्ट एड, पर्वतारोहण जैसे सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष तो मिश्रित होने ही चाहिए। परंपरागत प्रवचन शैली अपनाने पर तो लाभ यत्किंचित ही हो पाता है। कुतुबनुमा की तरह दिशा संकेतों में व्यावहारिकता की कमी रह ही जाती है।

यहाँ कठिनाई एक और है कि विभिन्न व्यक्तियों का स्तर अलग-अलग प्रकार का होता है और उनकी दृष्टि भी अपने-अपने ढंग की होती है। जिन दुर्गुणों से छुड़ाया जाना है वे भी एक जैसे नहीं होते। जिन सत्प्रवृत्तियों की जिसमें जो कमी है, उन्हें उसी की

आवश्यकता के अनुरूप बढ़ाया जाता है। व्यक्तियों के पूर्वाग्रह अपने-अपने ढंग के कठोर होते हैं। कई तो इतने दुराग्रही होते हैं कि अपनी अनुपयुक्त स्थिति को ही सही मानते हैं। उसी के समर्थन में अड़े रहते हैं। सुधार-परिवर्तन की बात स्वीकार करना तो दूर, वे उन्हें समझने तक को तैयार नहीं होते। समीक्षा में भर्त्सना की गंध ढूँढ़ते हैं। परामर्शदाता को विद्वेषी एवं अपमान करने वाला मान बैठते हैं।

सुनने-सुनाने भर की बात तो किसी प्रकार निभ जाती है, पर जब उनके अनुरूप स्वभाव, अभ्यास को बदलने का प्रश्न सामने आता है तो वे बिदक जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में शिक्षक क्या करें ? जिन छात्रों में उत्कृष्टता के समावेश का जो उत्तरदायित्व सिर पर आया है, उसे सही रूप में कर सकने के लिए क्या मार्ग अपनाया जाए ? यह उनकी समझ में भी नहीं आता। ऐसी दशा में वे भी अपने हिस्से की चिह्न पूजा करके दूसरे साथियों की तरह छुटकारा पा लेते हैं। बात जहाँ की तहाँ अड़ी रह जाती है।

अच्छा होता मूर्धन्य विचारकों, समाज-सुधारकों, शिक्षा शास्त्रियों और शासनाध्यक्षों ने इस तथ्य की उच्चस्तरीय सार्थकता समझी होती है उसे प्रशिक्षण के साथ गूँथ देने की योजना बनाई होती। गुरुकुल प्रणाली यदि इन दिनों यथावत अपनायी नहीं जा सकती, तो कम से कम उसका आधार तो समझा गया होता, जिसमें छात्र और अध्यापक के बीच आत्मीयता मिश्रित घनिष्ठता आवश्यक समझी जाती। विद्यार्थियों को उपयुक्त वातावरण दिया जाता था, ताकि सभी साथी सहचरों के क्रिया-कलाप को देखकर भी अनुकरण करने को मन करता रहे, सरलतापूर्वक उपयुक्त स्तर के व्यक्तित्व को ढाले जाने का प्रयोजन पूरा होता रहे। यह प्रक्रिया किन्हीं अंशों में तो अपनायी भी जा सकती है। इस परंपरा को अपनाए जाने की दिशा में न्यूनाधिक कुछ तो प्रयत्न हो सकता है। अपने विद्यालय में उन सिद्धांतों को किसी न किसी रूप में किसी न किसी हद तक कार्यान्वित होने में कुछ तो सफल हुआ ही जा सकता है।

अच्छा होता कि विचारकों ने यह सोचा होता कि सामान्य दीख पड़ने वाले व्यक्तियों की प्रतिभा उभारी जा सकती है, उनके दृष्टिकोण संयम और उत्साह को बल दिया जा सकता है। साहस उभारा जा सकता है। चरित्र का धनी, अनुशासित, विवेकशील, ईमानदार, कर्मनिष्ठ जैसा सद्गुण संपन्न उन्हें बनाया जा सकता है।

व्यक्तित्वों का निर्माण, राष्ट्र की, विश्व की, मानवता की महती आवश्यकता है। विशेषतया आज के अनास्था, अवांछनीयता एवं नैतिक अराजकता के वातावरण में पुराने मूल्यांकन, आधार और प्रचलन बदल गए, नई पीढ़ी की नई संस्कृति ने जड़ पकड़ी। इसमें प्रामाणिकता और प्रखरता अपनाने के लिए अभिरुचि रह नहीं गई। उसी का प्रतिफल है कि व्यक्ति और समाज को अनेकानेक समस्याएँ उलझन में डाले हुए हैं। अनेकानेक संकट सहने पड़ रहे हैं। इनका समग्र समाधान तब तक नहीं निकल सकता, जब तक कि जन साधारण को मानवीय गरिमा के अनुरूप अपना दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप ढालने के लिए सहमत-तत्पर न किया जाए। यह महती आवश्यकता है। इस बुद्धिवाद के युग में इस घेरे में लोक मानस को अनुशासित करने के लिए ऐसे प्रतिपादनों की आवश्यकता है, जो तर्क, तथ्य, प्रमाण और उदाहरणों से भरा-पूरा हो, पर अभी ऐसा कुछ क्रमबद्ध नहीं है, न प्रतिपादन न प्रशिक्षण।

इस अभाव को दरिद्रता के समतुल्य, तत्काल सुलझाए जाने योग्य समस्या माना जाना चाहिए। इस संदर्भ में ऐसा प्राणवान क्रमबद्ध साहित्य सृजा जाए, जिसमें समय की प्रवृत्तियों, मान्यताओं को उत्कृष्टता की दिशा में भेजने के लिए ऐसा प्राण विद्यमान हो जो उलटे को उलटकर सीधा कर सके। इसके निमित्त विज्ञजनों को आवश्यक सामग्री प्रचुर मात्रा में एकत्रित करनी चाहिए। इस संग्रह के निमित्त युद्ध स्तर पर कार्य होना चाहिए। इतना गोला-बारूद संग्रह किया जाए, जिससे प्रस्तुत अवांछनीयता का दुर्ग विस्मार किया जा सके।

अच्छा हो इस प्रयोजन को एक स्वतंत्र विज्ञान माना जाए। उसे शिक्षा का अंग रखा जाए। साथ ही अतिरिक्त विश्वविद्यालय जैसा

तंत्र खड़ा किया जाए, जो प्रस्तुत आवश्यकता की पूर्ति कर सकने वाले महा मनीषियों का सृजन कर सके। शोधकर्त्ताओं के लिए आवश्यक सामग्री संसार भर से एकत्रित करके एक स्थान पर उसे जमा कर सके। शोधार्थियों के लिए ऐसा अवलंबन नितांत आवश्यक।

बड़े रूप में जब तक वैसा नहीं बन पड़ता, तब तक हाथ पर हाथ रखकर बैठे नहीं रहा जा सकता। प्रस्तुत साधनों से ही जो कुछ बन पड़ सकता है, वह किया जाना चाहिए। इस दायित्व को सँभालने के लिए अध्यापक समुदाय ही कुछ कर सकने में समर्थ हो सकता है।

शिक्षा के सहारे ही जर्मनी में नाजीवाद का आवेश उभरा था। साम्यवादी देश भी इसी आधार पर नई पीढ़ी को अपने मंतव्यों के प्रति समर्थक बना पाए। बुद्ध काल में विश्वव्यापी धर्म-चक्र-प्रवर्तन की भूमिका निभाने में नालंदा, तक्षशिला विश्वविद्यालय तथा अनेकानेक बिहार, संघाराम अपने प्रयत्नों से समय का काया-कल्प कर सकने में समर्थ रहे। इन दिनों वैसे तंत्र खड़े करने में यदि हर समर्थ क्षेत्र उदास दिखता है तो भी निराशा की कोई बात नहीं मात्र अध्यापक वर्ग ही यदि गहराई से विचार करके प्रयोजन की गंभीरता अनुभव करे और उसकी पूर्ति के लिए निजी पुरुषार्थ के सहारे कटिबद्ध हो चले तो इतने भर से आश्चर्यचकित कर देने वाली सफलता मिल सकती है।

निर्धारित पाठ्यक्रमों में नैतिक शिक्षा को गूंथा जा सकता है, जो पढ़ाया जाता है, उसमें अनेक घटनाक्रम, इतिहास, आख्यान भी रहते हैं। इनमें से जिन्होंने दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाई, उन्हें पतन पराभव का मुँह देखना पड़ा और सदाशयता, सच्चरित्रता, परमार्थ परायणता के पक्षधर रहे उन्होंने न केवल आत्म संतोष और सुयश अर्जित किया वरन् सांसारिक क्षेत्र में भी कुछ बड़े काम कर सकने, महामानवों की पंक्ति में जा बैठने में समर्थ हुए। जिन्होंने धूर्तता के सहारे प्रगति की, उन्होंने भी आदर्शवादिता का ही व्याघ्र चर्म ओढ़ा। इस प्रकार के संदर्भ हर दिन के कार्यों में न्यूनाधिक संख्या में मिलते रहते हैं। इसमें हलका-फुलका प्रकाश अतिरिक्त रूप में डाला जाता रहे तो

शिक्षार्थियों की मनोभूमि कुछ उपयोगी आदर्शवादी मान्यताएँ धीरे-धीरे अपनाती रह सकती हैं। वह पुट निरंतर लगते रहने से उत्कृष्टता की पक्षधर मनोभूमि परिपक्व होती रह सकती है। यह संकलन सामान्य स्तर के छात्रों को समयानुसार उदाहरण के रूप में व्यक्तित्ववान बनाये रह सकता है।

यह जोड़-तोड़ हर पाठ्य विषय के साथ बिठाया जा सकता है। यहाँ तक कि गणित जैसा रूखा विषय भी इस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। "दस चोरों में से छह पकड़े गए। दो अस्त-व्यस्तता के कारण बीमार पड़े एक की अप्रतिष्ठा फैली और वह असहयोग के कारण बेकार हो गया। बताओ उनमें से कितने सही स्थिति में बचे ?" बाल कथा के इस छोटे-से प्रश्न में भी नैतिकता के समर्थक संकेत भी मिल सकते हैं। इसी प्रकार भूगोल, गणित, इतिहास, भाषा, विज्ञान आदि किसी भी विषय के पढ़ाते समय उसमें से ऐसे निष्कर्ष ढूँढ़े और कहे जा सकते हैं, जो दुष्प्रवृत्तियों की हानियों और सत्प्रवृत्तियों की उपलब्धियों को प्रकट करते हों।

किस विषय के साथ किस प्रकार मानवीय आदर्शों, उच्च जीवन मूल्यों का पृष्ठ लगाया जाए ? कैसे किसके साथ क्या संगति बिठाली जाए ? इस पर पर्याप्त मार्गदर्शन युक्त साहित्य लिखा जा सकता है। समय की पुकार पर अगले चरण में वैसा होगा भी, परंतु अभी तो भावनाशील शिक्षकों को परस्पर परामर्श करके ही संबंधित सूत्रों का निर्धारण कर लेना समयानुकूल है।

❑❑

उपलब्ध उदाहरणों एवं साधनों का प्रयोग

जन साधारण की आम मान्यता यह बनती जाती है कि चोर-चालाक नफे में रहते हैं। वे दूसरों को भुलावे में डालकर अपना उल्लू सरलतापूर्वक सीधा कर सकते हैं। जल्दी धनी बन सकते हैं। सीधे मार्ग पर चलकर जो सफलता देर में मिलती है, उसे टेढ़े-तिरछे मार्ग पर चलकर जल्दी प्राप्त किया जा सकता है। इस मान्यता की पुष्टि निकटवर्ती क्षेत्र में फैले पड़े इस प्रकार के उदाहरणों से भी होती रहती है। हथेली पर सरसों जमाने के लिए आतुर व्यक्ति किसी ऐसी बाजीगरी, बेईमानी को सीखने, चरितार्थ करने के लिए आतुर रहते हैं, जिसमें सतत् प्रयत्न की श्रमशीलता न अपनानी पड़े, प्रामाणिकता सिद्ध करके, विश्वास जीतने और सहयोग पाने के लिए धैर्य रखने, प्रतीक्षा करने की आवश्यकता न पड़े। जिनकी इस प्रकार की मान्यता पक जाती है, वे इसी फिराक में रहते हैं कि बेईमानी बदमाशी का कोई ऐसा तरीका ढूँढ़ निकालें, जिसे अपनाकर जल्दी ही प्रचुर लाभ कमाया जा सके। अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाकर लोगों की आँखों में चकाचौंध पैदा की जा सके। प्रलोभन या दबाव देकर कइयों को साथी सहयोगी बनने के लिए बाधित किया जा सके। यह छद्म इन दिनों तेजी से बढ़ रहा है। एक-दूसरे को प्रोत्साहित करने, सहयोग करने के लिए चोर-चोर मौसेरे भाई भी बढ़ते चले जाते हैं। गिरोह बन जाते हैं। वे एक-दूसरे की अनीति में सहायता ही नहीं करते वरन् आपस में एक-दूसरे को निर्दोष सिद्ध करने में भी साक्षी बनकर रहते हैं। निंदा न होने देने में ढाल बनते हैं और ऐसे सरंजाम खड़े करते हैं, जिनमें भर्त्सना के स्थान पर प्रशंसा मिलने लगे। इसी को कहते हैं कुचक्र-षड्यंत्र। यह कला बहुत विकसित होती जा रही है। सामान्य मानस के लोग ऐसे ही उदाहरणों को अनुकरणीय मान लेते हैं। उस मार्ग को अपनाने में चतुरता

अनुभव करते हैं। दांव लग जाने पर उस धूर्तता को बुद्धिमत्ता सिद्ध करते हैं और शेखी बघारते हैं।

यह मान्यता एवं प्रचलन एक से दूसरे पर पहुँचते हैं, उन्हें प्रभावित करके, अपने चंगुल में जकड़ते हैं। छूत की बीमारी की तरह यह व्याधि बढ़ती ही चली जाती है। अनैतिकता का प्रवाह इसी आधार पर तेजी पकड़ता जाता है। दूरदर्शिता के अभाव में लोग अंतिम परिणामों का अनुमान नहीं लगा पाते। कुकर्मों के दुष्परिणामों की बात नहीं सोच पाते और तात्कालिक लाभ के लिए कुछ भी करने को, यहाँ तक कि अनीति अपनाने को भी तैयार हो जाते हैं।

जन साधारण का स्वभाव अनुकरणप्रिय होता है। बच्चे इसी आधार पर अपनी अभिरुचि विकसित करते हैं, भाषा ज्ञान सीखते हैं और पसंदगी-नापसंदगी का निर्धारण करते हैं। बड़े हो जाने पर भी यह सिलसिला चलता रहता है। संगति का फल सभी जानते हैं। सुसंग और कुसंग से किस प्रकार मनुष्य प्रभावित होता है इसके उदाहरण अपने ही इर्द-गिर्द ढेरों ढूँढ़े जा सकते हैं।

गिरना सरल है, उठना कठिन। पतनोन्मुख प्रवृत्ति अधिक आकर्षक होती है। वे तात्कालिक लाभ देने वाली भी प्रतीत होती हैं और कौतूहलवर्धक भी लगती हैं। छोटे बच्चे आग, साँप जैसी चमकीली वस्तुओं को पकड़ने के लिए लपकते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता कि इसका परिणाम क्या हो सकता है ? सामान्य जन भी दूरगामी परिणामों का विचार नहीं कर पाते।

नशेबाजी जैसे दोष इसी कारण पनपे हैं। आरंभिक दिनों में उत्तेजना का चस्का मनोरम लगता है, पर कुछ ही दिनों में वह अभ्यास में उतरकर न छूटने वाली आदत बन जाता है। उसके कारण नशेबाज बदनामी सहता, दरिद्र बनता, शरीर को जर्जर करता, परिवार को विपत्ति में डुबाता और अंत में बेमौत मरता है। यह कालांतर में मिलने वाला परिणाम है, पर पहले दिन तो खुमारी लाने वाला चस्का ही सब कुछ प्रतीत होता है। लत उसी कारण बड़ी होती है। अन्य दुष्प्रवृत्तियों के संबंध में भी यही बात है। वे एक दूसरे पर चढ़ दौड़ती है और सुविस्तृत क्षेत्र को अपने कब्जे में जकड़ लेती

हैं। इन दिनों अनैतिकता का व्यापक प्रचलन इसी कारण बढ़ता चला जाता है।

कुछ मनस्वी ऐसे भी होते हैं जो सुदृढ़ता, परिपक्वता के आधार पर दूसरे अनेकों को बदल देते हैं, बिगड़े वातावरण को सुधार देते हैं, पर अधिकांश ऐसे नहीं होते, वे क्षीण मनोबल के रहते हैं। दूसरों को प्रभावित नहीं कर पाते, स्वयं प्रभावित होते और वातावरण के बहाव में आँधी में उड़ने वाले पत्तों की तरह कहीं से कहीं पहुँचते रहते हैं। वातावरण ही उन पर छाया रहता है। बाजीगर 'वातावरण' के इशारे पर वे कठपुतली की तरह नाचते रहते हैं।

तथ्य के अनुरूप उचित तो यह होता कि उत्कृष्टता का वातावरण बने और समझदारों का समुदाय उसमें रहकर अपना उत्साहवर्धक विकास करे। उपयुक्त वातावरण जहाँ हो वहाँ जा पहुँचना या श्रेष्ठता के वातावरण को अपने इर्द-गिर्द आच्छादित कर लेना, उत्कर्ष के अभ्युदय के, परिवर्तन परिष्कार के यही दो उपाय हैं, किंतु कठिनाई यह है कि ऐसा किस प्रकार संभव हो ? दुष्प्रवृत्तियों से भरा वातावरण कैसे हम से दूर हो ? कैसे हम उनसे परे हो पाएँ ? दोनों ही संभावनाएँ समान रूप से कठिन हैं।

इतने पर भी इसका एक सरल हल उपलब्ध है। महामानव जीवित रूप से अपने समीपवर्ती क्षेत्र में भले ही न हों, पर उनकी कथा-गाथाओं में पाया जाने वाला ऐतिहासिक स्वरूप, इस उद्देश्य के लिए लिखे गए जीवन साहित्य में संग्रहीत पाया जा सकता है। उसे बार-बार मनोयोगपूर्वक पढ़ा जा सकता है। उन्हें समीप विद्यमान अनुभव किया जा सकता है और उनकी श्रेष्ठताओं को हृदयंगम करने के लिए, जीवन में उतारने के लिए संबद्ध हुआ जा सकता है। यह स्वयं भी अपने निमित्त किया जा सकता है और दूसरे अन्यान्यों को भी उपलब्ध कराया जा सकता है।

निकटवर्ती एवं समीपवर्ती क्षेत्र में मानवी गरिमा से सुसंपन्न व्यक्ति यदि सरलतापूर्वक न खोजे जा सकें तो दूरवर्ती, पूर्ववर्ती संपन्न व्यक्तियों की तलाश करनी पड़ेगी। यह प्रक्रिया श्रमसाध्य तो है, पर असंभव नहीं। ऐतिहासिक, पौराणिक कथा-गाथाओं का समुद्र-मंथन

करने से ऐसे ढेरों उदाहरण हस्तगत हो सकते हैं। किसी महापुरुष के समस्त जीवन का घटना क्रम सुनना आवश्यक नहीं। काम इतने भर से चल सकता है कि उनके वही अंश लिए जाएँ, जिनमें नीति शिक्षा का कोई घटनाक्रम या संवाद अत्यंत स्पष्ट रूप से निखरा हो। ऐसे उदाहरण देशी और विदेशी कहीं के भी हो सकते हैं। उनमें नर-नारी, बालक, वृद्ध, अपंग सभी आ सकते हैं। ऐसा एक संकलन युग निर्माण योजना मथुरा से 'प्रज्ञा-पुराण' नाम से पांच खंडों में प्रकाशित भी हुआ है। अभी इस प्रसंग में और भी विशेष संकलन बढ़ाने की आवश्यकता है।

तर्क, तथ्य आदि के आधार पर विवेचनात्मक भाषण देना सुगम है, क्योंकि उसमें शब्दों को लच्छेदार बनाकर विवेचना पक्ष को विस्तृत तो बनाया जा सकता है, पर उसमें सरसता नहीं आ सकती। विशेषतया तथ्य को हृदयंगम करने का अवसर तो मिलता ही नहीं। कारण यह है कि लोगों की प्रधान प्रवृत्ति अनुकरण की है। अनुकरणीय-घटनाएँ ही होती हैं। वे प्रत्यक्ष न हों, पुरातन ऐतिहासिक भी हो सकती हैं। दुर्भाग्य से ऐसा कोई संकलन हुआ नहीं है, जिसे शिक्षण हेतु प्राध्यापकों के हाथ में थमाया जा सके। प्रथम बार इस दृष्टि से प्रज्ञा पुराण तथा महापुरुषों की जीवनियों का ही संकलन हुआ है। बन पड़ा तो ऐतिहासिक प्रमाणिक घटनाओं का सुनियोजन क्रमबद्ध संकलन हम लोग प्रकाशित करेंगे, जिनके उद्धरण देते हुए नीति शिक्षा पक्ष के अनेक पहलुओं को छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सके, उनके अनुकरण पर जोर दिया जा सके।

पुस्तकों के अतिरिक्त इस प्रयोजन के लिए चित्रों एवं संगीतों का भी प्रयोग हो सकता है। नाटक, प्रहसन, वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ भी एक सीमा तक इस प्रयोजन की पूर्ति कर सकतीं हैं। यह साधन उपकरण किस प्रकार एकत्रित किए जाएँ ? उन्हें कैसे विनिर्मित किया जाए ? उनकी व्यवस्था बनाने एवं प्रदर्शन करने के लिए किस स्तर की योजना बनाई जाए यह सभी विचारणीय हैं। शिक्षा विभाग के पास इन कार्यों के लिए संभवतः कोई बड़ा बजट नहीं है, न प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता हैं, जो लोक मंगल और लोक रंजन के समन्वय

की रूपरेखा बनाकर ऐसा तंत्र खड़ा कर सकें, जो ब्रेन वाशिंग की, लोक मानस के कायाकल्प व्यवस्था बना सके। इस आवश्यकता की पूर्ति हमें स्थानीय साधनों से ही करके, फिलहाल किसी प्रकार काम चलाना होगा।

संगीत एक बहुत अच्छा माध्यम है। विद्यार्थियों में भी उसके प्रति अभिरुचि होती है। वाद्ययंत्रों की अच्छी व्यवस्था न बन पड़े तो ढपली, मजीरा, घुँघरू का ही प्रयोग करें। एक-दो सप्ताह के अभ्यास से ही इनमें कक्षा के कई छात्रों को कुशल बनाया जा सकता है। प्रसंगों के अनुरूप कविताएँ और गीत जहाँ-तहाँ से संकलित किए जा सकते हैं। जिनके मधुर कंठ हों, उनके द्वारा ठीक तरह गा सकने की शिक्षा दी जा सकती है। इस प्रकार एक छोटी संगीत मंडली हर कक्षा में बन सकती है। कक्षा-क्रम से बनी इन मंडलियों को अलग-अलग अभ्यास प्रदर्शन करने का अवसर दिया जा सकता है। उनकी प्रतियोगिताएँ भी आयोजित की जा सकती हैं।

चित्रावलियाँ प्रकाशित कराई जा सकती हैं, जिनमें नीति पक्ष का समर्थन करने वाले प्रसंगों का चित्रण हो सकता है। बड़े चार्ट भी बनाए जा सकते हैं। सधे हुए हाथ वाले विद्यार्थियों से चार्ट बनवाकर उन्हें कक्षाओं में लगाया जा सकता है।

सस्ते स्लाइड प्रोजेक्टर भी बन सकते हैं। जहाँ बिजली हो, थोड़ा अंधेरा किया जा सकता हो, वहाँ इन छोटे स्लाइड प्रोजेक्टरों से भी आदर्शों को आँखों के सामने प्रस्तुत करने की बात बन सकती है। प्रज्ञा अभियान, शांतिकुंज हरिद्वार द्वारा इस विद्या का सफल प्रयोग हो भी रहा है। नैतिक मूल्यों को प्रोत्साहन देने वाले प्रसंगों की स्लाइडें और स्लाइड प्रोजेक्टरों की व्यवस्था भी की गई है।

छोटे-छोटे एकांक नाटकी बन सकते हैं और उन्हें बिना किसी साज-सज्जा के उपलब्ध साधनों से ही यत्किंचित सज-धज करते हुए बिना मंच के खुले में भी प्रदर्शित किया जा सकता है। उपयुक्त एकांकी खोजने पर बाजार में भी मिल सकते हैं और परिस्थितियों के अनुरूप शिक्षकगण स्वयं भी लिख सकते हैं। बात उस दिशा में उत्साह उभारने भर की है।

कवि सम्मेलन तो नहीं पर कविता सम्मेलन आसानी से हो सकते हैं। किसी भी कवि की कविता को उनके नाम की चर्चा करते हुए प्रतिनिधि रूप में उसे सुनाया जा सकता है। यों इन दिनों समारोहपूर्वक होने वाले कवि सम्मेलन भी आदर्शों की सीमा में सीमित रहकर, यह कार्य बड़े रूप में कर सकते हैं, पर उन तक अपनी छोटी आवाज न पहुँचे तो काव्य संगीत अभिनय का सम्मिश्रण करके, अपनी सूझ-बूझ के आधार पर छोटी-मोटी स्थानीय व्यवस्था तो बन ही सकती है।

यह सब ऐसी विधाएँ हैं, जिनके लिए थोड़े-से साधनों से काम चल सकता है। यह साधन स्कूलों के सामान्य बजट से अथवा किन्हीं उदार व्यक्तियों के सहयोग से सहज ही जुटाए जा सकते हैं। आवश्यक इतना भर है कि शिक्षक वर्ग इनका महत्त्व समझकर, बड़ी कल्पनाओं में खोया न रहकर, प्रभावशाली ढंग से इन सामान्य परंतु प्रभावशाली विधाओं का प्रयोग करने के लिए कमर कस लें। इतने भर से किशोर हृदयों में आदर्शवादी उमंगें जगाने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है।

❑❑

युगधर्म के दस लक्षण

पुरातन काल में नीति शास्त्र को धर्म शास्त्र के अंतर्गत लिया जाता था। बाद में सांप्रदायिक मान्यताएँ और प्रथा परंपराएँ भी उसके साथ जुड़ गईं। संप्रदायों के प्रतिपादनों में अनेक स्थल ऐसे हैं, जो एक-दूसरे से मेल नहीं खाते। इसीलिए विवाद उठते हैं और पूर्वाग्रह आपस में टकराते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्यता के हित में यही उपयुक्त है कि संप्रदायों को सहिष्णुतापूर्वक रहने दिया जाए। उनमें जो बातें सर्वोपयोगी और नीति सम्मत मिलें, उन्हें अपनाते और सराहते रहा जाए। विग्रह का अवसर देने वाले प्रचलनों या प्रतिपादनों की चर्चा को टालते रहा जाए।

नीतिशास्त्र को धर्मशास्त्र के साथ जोड़ना हो तो उसके अंतर्गत आने वाली आदर्शवादी स्थापनाओं को प्रत्येक संप्रदाय द्वारा प्रोत्साहन दिया जाए। उन्हीं को प्रकाश में लाया जाए और उन्हीं को प्रचारित किया जाए।

आज की परिस्थितियों में विवेकपूर्ण अध्ययन करने पर पाया जाता है कि धर्म-धारण की प्रमुख स्थापनाओं में, तत्त्वदर्शन की दिशाधाराओं में भी परस्पर अंतर है। जैसे—अहिंसा शब्द को ही लें, तो उस संदर्भ में अनेक पक्ष-विपक्ष उभरकर सामने आते हैं। जैन और बौद्ध धर्मों में अहिंसा को प्रमुखता और प्राथमिकता दी गई है, पर शक्ति धर्म में देवताओं के सामने पशु बलि देने का प्रावधान है। अन्यान्य धर्मों के विभिन्न त्यौहारों पर पशु बलि धार्मिक परंपरा के अंतर्गत की जाती है। उनमें प्रसाद के रूप में माँस परोसा जाता है। इस विभेद को दूर कैसे किया जाए ?

सत्य के संबंध में भी ऐसे ही द्वंद्व सामने आते हैं। उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के नाम पर राजनीति में, सेना में, गुप्तचर विभागों में तो दुराव अपनाकर भेद लेने की, भेद न खुलने देने की व्यवस्था है ही। समय-समय पर अध्यात्मवादी भी अपवाद प्रस्तुत करते रहे हैं।

बच्चों का मन रखने के लिए अथवा दुष्टों की दुष्टता निरस्त करने के लिए प्रत्यक्ष सत्य की मर्यादाएँ तोड़ी जाती हैं। भगवान कृष्ण के जीवन में ऐसे ही कई उतार-चढ़ाव हैं। इस दृष्टि से धर्म लक्षणों की कोई स्पष्ट रेखा खींची हुई नहीं है। विभिन्न स्थलों पर धर्म के भिन्न-भिन्न लक्षणों का प्रतिपादन मिलता है। इस आधार पर भी कोई सर्वसम्मत अभिमत उभरकर सामने नहीं आता।

ऐसी स्थिति में परंपरागत विधि निषेधों की ऊहापोह में न उलझकर शाश्वतधर्म "युगधर्म" के नाम से नीति नियमों का वर्गीकरण करके, उन्हें स्वीकार कर लेना हमारे लिए अधिक उपयोगी होगा। धर्म के अनेक लक्षण हैं—प्रत्येक, लक्षण में अनेक बारीकियाँ हैं। उन सबका जोड़-तोड़ बिठाने पर धर्म के प्रमुख अंगों की संख्या भी इतनी बड़ी हो जाती है, कि उनके निर्वाह की सतर्कता बरतना तो दूर, उन्हें पूरी तरह याद रखना भी कठिन हो जाता है।

ऐसी दशा में यही उपयुक्त लगता है कि सामयिक समस्याओं का समाधान कर सकने वाले, सामयिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकने वाले नीति नियमों को ही प्रमुखता दी जाए और उन्हें ही ऊपर उठाया-उछाला जाए। उन्हें सार्वभौमिकता एवं सज्जनता की कसौटी पर जाँचते हुए खरे स्तर तक पहुँचाया जाए। इन दिनों कई दुर्गुण असाधारण रूप से पनप रहे हैं। वे प्राचीनकाल में इतने उग्र रूप में नहीं थे, इसलिए तब उनके प्रतिरोध पर अधिक जोर देने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई, परंतु आज की स्थिति में उनकी उपेक्षा का अर्थ है विनाश को निमंत्रण देना। इसलिए अब उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके विरोध-प्रतिरोध के लिए सशक्त तंत्र खड़े करने ही होंगे।

उदाहरण के लिए नशेबाजी को ही लें। प्राचीनकाल में उसे उतनी बड़ी विकृति नहीं माना गया था, क्योंकि तब नशे के नाम पर तीव्र प्रतिक्रिया वाले अत्यधिक हानिकारक पदार्थों का प्रचलन नहीं था। जो थे, वे सौम्य नशे थे और उपयुक्त परिस्थितियों में उनके मर्यादित उपयोग से उतनी हानि की संभावना नहीं थी। उनमें किन्हीं अंशों में औषधीय गुण भी रहते थे तथा उस रूप में चिकित्सक की

सलाह से लेने में कोई दोष नहीं माना जाता था, परंतु आज तो स्थिति भयंकर है। इतने तीव्र नशीले पदार्थ विकसित कर लिए गए हैं कि उन्हें जहर से कम्म कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उस पर भी नशा-सेवन व्यसन से आगे बढ़कर फैशन बनता जा रहा है। सेवन की कोई मर्यादा ही नहीं रह गई है। तीव्र नशे और उनके अमर्यादित सेवन की प्रतिक्रियाएँ समूचे समाज को ही जर्जर किए डाल रही हैं। ऐसी स्थिति में यदि नशे को भारी अधर्म ठहराया जाए तो इस निर्धारण को सही और समयानुकूल ही कहा जाएगा।

यही बात छल छद्म के संबंध में भी है। प्राचीन काल में सत्य व्यवहार एक सीधी-सादी बात के रूप में सहज स्वीकार्य था। कभी दो व्यक्ति या वर्ग आपस में टकराते थे, तो उनमें आमने-सामने सीधा संघर्ष ही होता था, पर आज तो अधिकांश व्यक्तिगत या सामूहिक लड़ाईयाँ छल-प्रपंच के आधार पर लड़ी जाती हैं। पहले तो कूटनीति की भी कोई आचार संहिता थी, जिसमें उसे सीमित प्रसंगों में, सीमित मात्रा में ही प्रयुक्त किया जाता था, पर अब तो छल प्रपंच की कोई सीमा मर्यादा भी नहीं रह गई। भाईयों और पड़ोसियों-सहकर्मियों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक, कोई पक्ष इससे मुक्त नहीं है। विपक्ष को धोखे में डालकर विश्वासघात की सीमा तक जाकर भी अपनी कथित जीत के ताने-बाने बुनना सामान्य बात हो गई है। मित्र बनकर शत्रुता करने वाले, शौर्य के स्थान पर धोखेबाजी की धूर्तता बरतने वाले अपने को कुशल शिकारी जैसा श्रेय दिलाना चाहते हैं। मानो मछलीमार, चिड़ीमार ही सबसे बड़े वीर विजेता कहलाने लगे हैं।

पुरातन काल में यह प्रवृत्ति नहीं थी। दिन में युद्ध करके दिन छिपे बाद सभी सैनिक शत्रु पक्ष की ओर से निश्चिंत होकर आराम करते थे। विरोधी पक्षों की ओर से लड़ने वाले भी शाम होने पर परस्पर मिल लेते थे, सलाह कर लेते थे, पर अब तो विश्वासघात को, छल को ही रणनीति का प्रमुख अंग मान लिया गया है।

लड़ाई ही नहीं सामान्य जन-जीवन में छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए भी छल-प्रपंच का ही प्रयोग होता देखा जाता है। पैसा समेटने के लिए, यश लूटने के लिए, मेरे को आगे और तेरे को पीछे धकेलने के

लिए, कदम-कदम पर धोखेबाजी-विश्वासघात को ही प्रमुख हथियार मानकर, प्रयुक्त होते देखा जाता है। ऐसी स्थिति में जब मनुष्य का मनुष्य पर से, मनुष्यता पर से ही विश्वास टूटा जा रहा है, तो छल को कौशल नहीं अधर्म कहकर ही उस पर कड़ा प्रतिबंध लगाना होगा। प्राचीन काल में ऐसी वीभत्स स्थिति पैदा न होने से भले ही उसे इतना घातक घोषित न किया गया हो, परंतु आज तो उसे सर्वसम्मत अधर्म घोषित करना ही होगा।

कथन का अभिप्राय इतना भर है कि समय की समस्याओं का अध्ययन करते हुए, उन्हें सुलझा सकने योग्य नीति निर्धारण करने होंगे। उनके ही प्रचार और लोक-शिक्षण का आधार बनाना होगा। व्यक्ति और समाज की उलझी हुई समस्याओं का जो समग्र समाधान दे सके, उसे ही "युग धर्म" कहा जा सकता है। ऐसे नीति निर्धारण को जन-जीवन में प्रमुखता मिले ऐसा वातावरण बनाना होगा।

युग की आवश्यकता के अनुरूप धर्म धारण या नीतिनिष्ठा के सूत्रों को इन दिनों इस प्रकार वर्गीकृत किय जाए तो ठीक रहेगा—

(१) **शालीनता**—सज्जनता, भलमनसाहत, विनम्रता का सहज स्वभाव, वाणी और व्यवहार से उसका परिचय देना। दूसरों को, छोटे-बड़े सभी को उचित सम्मान देना। वाणी में मधुरता, सहजता और सार-संक्षेप के समावेश का अभ्यास। अधिकार से अधिक कर्त्तव्यों का ध्यान रखना। विवादों और विग्रहों से यथासंभव बचना। विचारों में आदान-प्रदान का क्रम चलता रह सके, ऐसा संतुलन बनाए रखना। सुधार के लिए स्वयं को प्रस्तुत करने का सहज उत्साह बनाए रखना।

(२) **दूरदर्शिता**—निर्धारणों और प्रयासों के दूरगामी परिणामों को समझना और महत्त्व देना। उतावली में, आवेश में आकर्षण वश ऐसा कुछ न करना, जिससे तत्काल थोड़ा लाभ पाने के बाद भविष्य में तिरस्कार सहना और पश्चात्ताप करना पड़े।

(३) **तत्परता-सुव्यवस्था**—श्रमशीलता जागरूकता बनाए रखना। शारीरिक आलस्य और मानसिक प्रमाद का उन्मूलन। समय को सुनियोजित क्रिया-कलापों में व्यस्त रखना। हर क्षण को सार्थक

सदुपयोगों में लगाने की प्रखरता। हाथ के काम में समग्र मनोयोग से लगना। निरर्थक कल्पनाओं में मानसिक क्षमताओं को अस्त-व्यस्त न होने देना। शरीर, वस्त्र, स्थान, उपकरण, सभी में स्वच्छता और सुरुचि का सौम्य संयोग रखना। वस्तुओं को यथास्थान करीने से जमाने की आदत। दिनचर्या, कार्य पद्धति एवं योजनाओं में सुनियोजन का तारतम्य जीवन के किसी भी क्षेत्र में अस्त-व्यस्तता न रहने देना अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानना।

(४) **ईमानदारी**—किसी को धोखा न देना। वस्तु स्थिति से बहुत आगे बढ़कर शेखी न बघारना। छल प्रपंच का आश्रय न लेना। करनी और कथनी में अंतर न आने देना। अन्याय, अनौचित्य से बचकर रहना। बेईमानी को अपने विचारों और कार्यों में समाविष्ट न होने देना। अनीति न करना, न कराना और न उसका समर्थन करना।

(५) **जिम्मेदारी**—कर्त्तव्य परायणता, शारीरिक स्वास्थ्य का, मानसिक संतुलन का, आर्थिक सुव्यवस्था का तारतम्य बिठाये रखना। सौंपे गए कार्यों, आश्रित या अधीनस्थ व्यक्तियों के समुचित निर्वाह और विकास की क्षमता और भावना बनाए रखना। कोई ऐसा कार्य न करना, जिसका अनुसरण करने पर अन्यान्यों को पतन के गर्त में गिरना पड़े; दुःख उठाना पड़े। वैयक्तिक पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में प्रामाणिकता उत्कृष्टता बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहना। देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति कर्त्तव्यों को अनुभव करना और उनका निर्वाह करना।

(६) **आस्तिकता**—ईश्वर को सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय, कल्याणकारी चेतना शक्ति का प्रवाह मानना। उस दिव्यधारा को व्यक्तित्व में अधिक से अधिक समाविष्ट करने के लिए अभ्यर्थना, उपासना करना। परब्रह्म को सर्वव्यापी और न्यायकारी मानते हुए कर्मफल की सुनिश्चितता पर विश्वास करना। उसे विश्व व्यवस्था का अनिवार्य अंग मानकर चलना। प्रतिफल मिलने में देरी होती हो, तो भी उसको अकाट्य मानकर, कुकर्मों से बचे रहने के संबंध में सतर्क रहना। व्यक्तित्व को, उसमें सन्निहित विभूतियों को परमपिता की

धरोहर मानना और उसके सदुपयोग के लिए जागरूक रहना। इस हेतु व्यक्तित्व में पवित्रता, प्रामाणिकता और प्रखरता बढ़ाते हुए सच्चे अर्थों में अध्यात्मवादी बनना।

(७) परमार्थ परायणता—जरूरतमंदों की आवश्यकताएँ पूरी करने में हर्ष की अनुभूति होना। दीन-दुःखियों, गिरे हुओं को अभावों दुःखों और पतन से ऊपर उठाने के पुण्य-कार्य को अपने पवित्र कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करना और उसे नियमित रूप से दिनचर्या का अंग बनाकर चलना। अपने धन, समय, प्रतिभा, योग्यता, प्रभाव आदि का निर्धारित अंश उस निमित्त मनोयोगपूर्वक लगाते रहना। ऐसा करने में गौरव एवं संतोष की अनुभूति करना। इस क्रम में अन्यों को जोड़ते रहने का प्रयास पुरुषार्थ करते रहना।

(८) संयमशीलता—इंद्रियों को व्यसनों में न भटकने देना। चटोरापन, कामुकता, अतिवाचालता, आवारागर्दी जैसी दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश रखना। समय की सुनियोजित निर्धारण-दिनचर्या बनाकर चलना समय काटने-बर्बाद करने की मनोवृत्ति से बचना। प्रत्येक क्षण के अच्छे से अच्छे उपयोग के लिए तत्पर रहना। अर्थ को और साधन को, उपयोगी हितकारी कार्यों में ही लगाना। फैशन, विलासिता, अहंता के प्रदर्शन के लिए खर्चीले सरंजाम जुटाने में कड़ाई से कटौती करना। उपयोगी कार्यों के लिए बचत करना, अनावश्यक संग्रह से बचना। विचारों को श्रेष्ठ रचनात्मक कार्यों में इस प्रकार सुनियोजित किए रहना कि कुकल्पनाएँ उठने का अवसर ही न मिले। ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध, प्रपंच आदि का ताना-बाना बुना ही न जा सके। उद्वेग उठने, उत्तेजित होने की गुंजाइश ही न रहे।

(९) उदार आत्मीयता, सहकारिता—अपने आपको समष्टि का, विराट का एक अंग मानना। सबमें परमात्म चेतना या आत्मचेतना का अंश देखते हुए भेद से ऊपर उठकर, विशाल हृदय-आत्मीयता का प्रमाण देना। संकीर्ण स्वार्थपरता के भाव मन में न आने देना। सहयोग लेने और देने की प्रवृत्ति और कला का विकास करना। एक वृहत् परिवार का अंग होने का भाव बनाए रखना। मिल-जुलकर

रहने, मिल-बाँटकर खाने और साथ-साथ काम करने में प्रसन्नता अनुभव करना।

(१०) प्रखरता—कठिनाइयों, अवरोधों को पार करते हुए लक्ष्य तक बढ़ने की क्षमता, साहसिकता। आदर्शों को अपनाने, विकारों को हटाने, कठिनाइयों में अविचलित रहने योग्य मनोबल। कुरीतियों-अनीतियों को नकारने और उनका प्रतिरोध कर सकने योग्य संकल्प बल। सन्मार्ग पर चल पड़ने की ही नहीं, उसे बना लेने की भी सहज प्रवृत्ति का विकास।

उपरोक्त दस सूत्रों को युगधर्म की मान्यता दी जा सकती है। विभिन्न मत-मतांतरों-संप्रदायों को मानने वालों को भी इन्हें अपनाने में सैद्धांतिक कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि प्रकारांतर से सभी विचारकों ने इन्हें स्वीकार किया है। कहीं किसी नियम विशेष की लक्ष्मण रेखा बन गई हो, वहाँ उसे इन दस सूत्रों में से किसी के साथ, उसकी समस्वरता देखते हुए मिलाया जा सकता है। अनेकानेक नीति-नियमों को इन दस सूत्रों की परिधि में समेटा जा सकता है। योग दर्शन में वर्णित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान आदि दस नियम इन्हीं में आते हैं। मनु के दस धर्म लक्षण और महात्मा गाँधी के सप्त महाव्रत भी घुमा-फिराकर इन्हीं सूत्रों में सन्निहित हो जाते हैं।

यदि हर सद्गुण के लिए एक-एक नियम बनाया जाए तो उनकी संख्या सैकड़ों-हजारों तक जा पहुँचेगी, फिर उन्हें याद रखना ही कठिन हो जाएगा। उन्हें जन सामान्य को बतलाना, जीवन में समाविष्ट करना तो असंभव जैसा लगेगा। अस्तु सार-संक्षेप में सीमित दस सूत्रों को ही लेकर चलना ठीक होगा।

इन सूत्रों की परिधि में दार्शनिक क्षेत्र में प्रतिपादित आस्तिकता, धार्मिकता, आध्यात्मिकता का, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग का गीतोक्त दैवी-संपदाओं आदि का भी समावेश हो जाता है। समाज-शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सभी अनुशासन संयमशीलता के अंतर्गत और नागरिकता के नियम शालीनता के अंतर्गत आ जाते हैं। इसी प्रकार कहीं यदि कुछ छूटता दिखे तो उन्हें इन्हीं सूत्रों के साथ ही

जोड़ते हुए चला जा सकता है। इन्हें युग धर्म का शाश्वत धर्म का नाम देकर सार्वभौम स्तर पर लागू किया जा सकता है।

इन सूत्रों को छात्रों तक पहुँचाने में कठिनाई नहीं होती, परंतु उन्हें यह सूत्र रटा भर देने से काम नहीं चलेगा। इनके महत्त्व, प्रतिफल आदि समझाने होंगे। व्यावहारिक रूप देने में आने वाली कठिनाइयों का समाधान करना होगा। यह सब कार्य जन-जीवन के अथवा ऐतिहासिक धार्मिक कथाओं के उदाहरणों के माध्यम से किए जा सकते हैं। जिन धार्मिक विश्वासों से संबद्ध छात्र हों, उन्हीं धाराओं के उदाहरण अधिक ग्राह्य हो सकते हैं। यह सब ताने-बाने थोड़ी-सी रुचि लेने से ही बुने जाने संभव हैं।

❑❑

सेवा सहकारिता का अभ्यास ही नहीं, चस्का भी

कुछ विषय ऐसे हैं जिन्हें पुस्तकों के माध्यम से अथवा प्रवचन द्वारा सिखाया-समझाया जा सकता है। उनके लिए प्रत्यक्ष प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान, नागरिक शास्त्र, समाज शास्त्र, भूगर्भ, खगोल आदि ऐसे विषय हैं, जिनकी पृष्ठभूमि जान लेने से काम चल सकता है। तत्त्व दर्शन को भी पुस्तकों के सहारे अथवा कथा, सत्संगों, विवेचनों में सम्मिलित होकर जानने-समझने का अवसर मिल सकता है, किंतु कुछ विषय ऐसे हैं, जिनमें प्रयोगों की, उपचार उपकरणों की आवश्यकता होती है। शरीरशास्त्र चिकित्सा विज्ञान, संगीत, शिल्प विज्ञान आदि को समझने-समझाने के लिए प्रयोगों की, साधन-सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें मात्र स्वाध्याय सत्संग के द्वारा नहीं समझाया जा सकता है। अंतराल की गहरी परतों तक किसी तथ्य को पहुँचाने के लिए ऐसे दृश्यों, आयोजनों की आवश्यकता पड़ती है, जो जिज्ञासु की अनभिज्ञता को भिज्ञता में बदल सके। विषय की उपलब्धियों से अवगत होकर, उन्हें कार्यान्वित करने के लिए तत्पर हो सके।

शिक्षा ऐसा ही विषय है जो मात्र कथन श्रवण से पूरा नहीं होता। पुस्तकें जानकारी तो देती हैं पर वस्तुस्थिति भली प्रकार समझ सकने की गहराई तक नहीं पहुँचाती। उनके लिए प्रयोगों की आवश्यकता पड़ती है। साधन जुटाने होते हैं। संगीत सीखने के लिए न केवल वाद्य यंत्र चाहिए, वरन् स्वर ज्ञान कराने वाला और भूलों को सुधारने वाला निष्णात शिक्षक का योगदान भी साथ-साथ चलना चाहिए। विज्ञान की कक्षाओं के लिए प्रयोगशाला आवश्यक समझी जाती है। गृह विज्ञान, पाक विज्ञान, धात्रिकला जैसे विषयों के संदर्भ में भी प्रत्यक्ष प्रयोग तथा आवश्यक दृश्य साधन जुटाने पर ही काम

चलता है। छोटे बच्चे किंडर गार्डेन उपकरण, बाल फ्रेम, ब्लैक बोर्ड आदि के सहारे ही अपने विषय में आगे बढ़ पाते हैं। प्राथमिक कक्षाओं की पुस्तकों में चित्रों की भरमार रहती है, ताकि न केवल श्रव्य, वरन् दृश्य भी उनकी ज्ञान वृद्धि के लिए सामने प्रस्तुत रह सकें। व्यायामशालाओं में बौद्धिक कम और क्रिया पक्ष अधिक, रहता है। शल्य क्रिया, नट विद्या, बाजीगरी, अभिनय आदि बिना अभ्यास के, बिना मार्गदर्शक की सहायता के सीखे नहीं जा सकते।

नीति शिक्षा में वातावरण की उपयुक्तता पर बहुत जोर दिया गया है, ताकि निर्धारित सिद्धांतों का प्रयोग उस परिकर में देखा जा सके। नाटक, अभिनय, फिल्म भी प्रकारांतर से अभिरुचि को दिशा विशेष में मोड़ने, साधने का ही काम करते हैं। फौजी ड्रिल में भी अभ्यास की महत्ता सर्वोपरि है। छावनियों में युद्धाभ्यास होते रहते हैं। स्काउटिंग में जितना बौद्धिक है, उससे अधिक क्रिया पक्ष। उसके लिए प्रयोगों को कर दिखाने के रूप में परीक्षा ली जाती है। कैंप फायर मनोविनोद मात्र नहीं है। उनमें विभिन्न परिस्थिति में क्या कर दिखाने की आवश्यकता पड़ती है ? इसे व्यवहार में लाया जाता है। उस परिकर में क्रिया-कुशलता ही सराही जाती और पुरस्कृत होती है। समग्र शिक्षा मात्र पुस्तकों के लेक्चरों के सहारे पूरी नहीं होती, उसके साथ क्रिया प्रयोग भी जोड़ने पड़ते हैं। यदि उनकी उपेक्षा अवहेलना होती रहती है तो उस भूल को शीघ्र ही सुधारा जाना चाहिए। शिक्षा पद्धति का एक अंग अनुभव अभ्यास ही होना चाहिए। यों इसके लिए छात्रों की मंडली बनाकर पर्यटन की सुविधा दी जाती है, पर उसमें मनोरंजन मात्र कर लिया तो क्या काम बनेगा ? जो कुछ देखा जाता है उससे मिलने वाली शिक्षा एवं प्रेरणा को हृदयंगम करते चलने वाले उस प्रयोजन की पूर्ति, उत्साही सूक्ष्म बुद्धि वाले प्रशिक्षकों द्वारा की जानी चाहिए।

शिक्षार्थियों में सुसंस्कारिता संवर्धन के लिए भी मात्र जानकारी देने से काम नहीं चलेगा, प्रयोगों का सहारा लेना ही पड़ेगा। इसके लिए यदि समुचित परिपूर्ण व्यवस्था नहीं है तो वे प्रयोग जहाँ होते हैं

वहाँ जाकर अथवा अपने निजी आयोजन करते हुए उन दोनों पक्षों की कमी को पूरा करना चाहिए।

सामूहिक रूप से समाज सेवा के अभ्यास इस निमित्त आवश्यक हैं। छात्रों को उनके स्तर के अनुरूप संगठित किया जाए। खेलने-कूदने का अवसर दिया जाए, ताकि उनकी व्यवहार कुशलता, स्फूर्ति, तत्परता, जागरूकता एवं सहकारिता का, सतर्कता का अनुपात बढ़े। खेलों में हार-जीत के आधार पर निराश उत्तेजित होने का अवसर नहीं आने देना चाहिए वरन् खिलाड़ी भावना का हँसते-हँसाते विनोद करने का माद्दा बढ़ाना चाहिए। आत्म रक्षा के लिए, साहसिकता बढ़ाने के लिए लाठी चलाने जैसे अभ्यास भी उपयोग में लाए जाने चाहिए।

व्यायामशाला के साथ स्वास्थ्य रक्षा एवं आपत्तिकालीन व्यवस्था की जानकारी भी जुड़ी रहनी चाहिए। इस दृष्टि से स्काउटिंग में फर्स्ट-एड होम नर्सिंग, घरेलू चिकित्सा जैसे विषय जुड़े रहते हैं, उन्हें ऐच्छिक नहीं रहने दिया जाना चाहिए। अनिवार्य न होते हुए भी समझा-बुझाकर अधिकांश छात्रों को उसमें भाग लेते रहने के लिए प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। स्वच्छता अपने आप में एक समग्र विषय है। उसका हर पक्ष स्वास्थ्य केंद्रों में सिखाया जाना चाहिए। व्यायामशालाओं को मात्र पहलवानी का विषय न माना जाए, वरन् उन्हें स्वास्थ्य संरक्षण, सक्रियता संवर्धन के रूप में शिक्षा का एक अविच्छिन्न विषय मानकर चलना चाहिए।

गैर-सरकारी स्तर पर स्कूलों में गृह-उद्योग नहीं सिखाए जा सकते। स्थान की कमी, शिक्षकों और साधनों का अभाव कैसे पूरा हो ? कच्चा माल कहाँ से जुटाया जाए ? बनी हुई वस्तुएँ कहाँ बेची जाए ? इन प्रश्नों का हल न मिलने पर वह प्रयोग क्रमबद्ध रूप में नहीं चल सकता। पर दो उद्योग ऐसे हैं जिन्हें शिक्षक सामान्य जानकारी जुटाकर अपने बलबूते छात्रों की सहायता से चला सकते हैं। इनमें से एक है घरेलू शाक वाटिका। विभिन्न मौसमों में बोए-उगाए जाने वाले शाकों का पता लगाकर, उन्हें टोकरियों में गमलों में भी बोया-उगाया जा सकता है। दूसरा है टूट-फूट की मरम्मत बर्तन,

फर्नीचर, स्टोव, पुस्तकें कपड़े आदि की मरम्मत करना सीख लेने पर टूटी-फूटी वस्तुओं को भी नई के सदृश्य बनाया जा सकता है। पुरानी फेंककर नई खरीदने में जो पैसा खर्च होता है, उसे बचाया जा सकता है। यह दोनों उद्योग ऐसे हैं जो सामान्य कुशलता से कम पूँजी में कहीं भी चल सकते हैं। इनके द्वारा होने वाली बचत का हिसाब लगाया जाए तो वह छोटे-मोटे गृह उद्योगों के बराबर जा पहुँचती है। साबुन बनाना, मोमबत्ती बनाना, स्याहियाँ बनाना, खिलौने बनाना आदि उद्योग भी ऐसे हैं, जिनमें अधिक पूँजी नहीं खपानी पड़ती, जो माल बनता है उसे निर्माणकर्त्ता ही सस्ते मोल में खरीद सकते हैं। साथ ही उन कौशलों में प्रवीण भी हो सकते हैं।

यह भी हो सकता है कि जहाँ देहात के लिए उपयोगी उद्योग चलते हों, वहाँ छात्रों को ले जाकर उनके बारे में अधिक से अधिक जानकारी दी जाए। लुहार, बढ़ई, दर्जी, कुम्हार, बुनकर आदि घरेलू उद्योग कर लेते हैं। उन्हें कार्यान्वित होते गाँव-गाँव देखा जा सकता है। उनके बनाने में लगने वाला सामान, उपकरण, औजार, श्रम, काम आदि की जानकारी सहज ही दी जा सकती है। उनसे होने वाली आमदनी का विक्रय के मारकेट का भी विस्तारपूर्वक विवरण दिया जा सकता है। कुछ बड़े कारखाने हों तो जहाँ वे चलते हैं वहाँ छात्रों को ले जाकर, उनका ब्यौरा बताया जा सकता है, ताकि उन्हें यह विदित रहे कि नौकरी ढूँढ़ने का एक विकल्प गृह उद्योगों को अपनाना भी हो सकता है। कृषि, पशुपालन तो देश के प्रमुख उद्योग हैं। उनको परिष्कृत ढंग से करने और अधिक लाभ कमाने का ज्ञान भी अध्यापक छात्रों को जहाँ-तहाँ ले जाकर सरलतापूर्वक करा सकते हैं। मधुमक्खी पालन पर ध्यान दिया जा सके तो वह भी लाभदायक उद्योग है।

कभी कभी छात्रों की छोटी-छोटी मंडलियाँ बनाकर घरेलू काम-काज को मिल-जुलकर करने की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। भोजन बनाना, कपड़े धोना, सफाई रखना, मकान की पुताई, मरम्मत, सजावट, पुस्तकों की जिल्दें आदि कितने ही कौशल ऐसे हैं, जिन्हें सीखने में जहाँ मनोरंजन होता है, वहाँ मिल-जुलकर कर काम करने

की सहकारी प्रवृत्ति भी पनपती है, घरों में इस प्रकार का प्रचलन चल पड़े तो परिवार के सभी सदस्य मिल-जुल कर सारे काम एक-दो घंटे में ही समेट सकते हैं। महिलाएँ जो गोरख धंधे में ही मस्त रहती हैं, वे कुछ अवकाश पा सकती हैं और उसे अपने बच्चों की पढ़ाई में लगाकर योग्यता बढ़ा सकती हैं। इस बचे हुए समय में स्त्रियाँ घरेलू उद्योगों के सहारे कुछ कमा भी सकती हैं।

व्यक्तिगत सद्‌गुणों की अभिवृद्धि का अभ्यास परमार्थ परायणता से होता है। पुण्य कमाना इसी को कहते हैं। लोक सेवा के लिए कुछ कदम उठाने की बात तभी बनती है, जब भीतर से सद्‌भावनाएँ उभरें। सस्ती नेतागीरी और झूठी वाहवाही लूटने के लिए प्रपंच, आडंबर खड़े करने वालों की बात दूसरी है। वे कहते बहुत हैं, दिखावा भी बहुत करते हैं, पर सेवा कृत्यों में समय लगाने एवं अनुदान अर्पित करने में तनिक भी उत्साह नहीं दिखाते। सद्‌गुण बढ़ चले या बढ़ने जा रहे हैं, इसकी एक ही परीक्षा है कि उदार सेवा साधना में संलग्न होने की उमंग उभरी या नहीं ? यदि उभरी होगी तो वे अवसर पाते ही उस प्रसंग में जुट पड़ने से पीछे न हटेंगे। इस प्रयोजन के लिए सेवा समिति जैसे छोटे-छोटे समुदायों का गठन किया जाना चाहिए।

सामूहिक सेवा कार्यों में गाँव की, गली-मुहल्लों की नालियों, कुओं के इर्द-गिर्द कीचड़ की, तालाब की सफाई करने का कार्य ऐसा है। जो सामान्य दीखते हुए भी असाधारण रूप से उपयोगी है। गंदगी से बीमारी फैलती है। कुरुचि और दुर्गंध से वातावरण दूषित होता है। कचरे को खाद के रूप में परिवर्तित करके, उसे मूल्यवान भी बनाया जा सकता है। सफाई करने वाले कर्मचारियों के अभाव की पूर्ति यह बाल-मंडलियाँ कर सकती हैं। रात्रि को पहरा देने का काम भी ऐसा है, जिससे सभी में जागरूकता, सावधानी बढ़ती है और चोरों-उचक्कों की दाल नहीं गलती।

मिल-जुलकर वृक्षारोपण किया जा सकता है। पौधशालाएँ लगाई जा सकती हैं। घर-घर आँगनबाड़ी लगाने का चस्का लगाया जा

सकता है। जिनकी लिपि अच्छी है, वे दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखकर वातावरण को प्रेरणाप्रद बना सकते हैं।

रोगियों की सेवा परिचर्या का काम भी मिल-जुल कर हाथ में लिया जा सकता है। सामूहिक आयोजनों का प्रबंध मिल-जुल कर किया जा सकता है। इनमें शिक्षाप्रद एकांकी नाटक, कविता सम्मेलन, गायन-वादन जैसे माध्यमों से जहाँ अपनी योग्यता बढ़ाई जा सकती है, वहाँ जनता के लिए शिक्षाप्रद मनोरंजन भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

ढूँढ़ने पर ऐसे अनेक काम विभिन्न स्तर के मिल सकते हैं, जिनमें सेवा, सहायता, सहकारिता की उदार भावना जुड़ी हुई हो। इस हेतु स्काउटिंग या सेवा समिति जैसे छोटे-छोटे संगठन हर जगह खड़े किए जा सकते हैं। इस प्रकार की पाठ्येतर गतिविधियों (एक्सट्राकैरी कुलर एक्टिविटीज) के लिए शिक्षा नीति में भी पर्याप्त स्थान है। उसके लिए समय और बजट दोनों ही साधिकार, नियमानुसार भी निकाले जा सकते हैं। पर्याप्त संख्या में विद्यार्थियों में इनके प्रति उत्साह भी होता है। पर शिक्षक वर्ग द्वारा पहले किए बिना यह कुछ भी कार्य किए-निभाये नहीं जा सकते। विद्यार्थी इन्हें स्वतंत्र रूप से अपने बूते नहीं चला सकते, परंतु यदि शिक्षक रुचि लें, उल्लास जगाएँ तो आसानी से ऐसी गतिविधियाँ चलती रह सकती हैं, जिनके माध्यम से सेवा के प्रति छात्रों में सहज रस पैदा हो जाए। एक बार रस पैदा हो जाने पर वे जीवन भर उस क्रम को चलाते रह सकते हैं।

मुद्रकः युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा

मिशन की पत्रिकाएँ

(१) अखण्ड ज्योति (मासिक)

(धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का विज्ञान एवं तर्क-तथ्य-प्रमाण की कसौटी पर खरा चिंतन)

वार्षिक शुल्क-108.00, आजीवन शुल्क-2000.00 रुपया।

अखण्ड ज्योति अंग्रेजी (द्वि-मासिक)

वार्षिक शुल्क-78.00 रुपया

पता : अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा-281003

फोन : (0565) 2403940

(२) युग निर्माण योजना (मासिक)

(व्यक्ति, परिवार, समाज निर्माण एवं सात आंदोलनों की मार्गदर्शक पत्रिका)

वार्षिक शुल्क-54.00, आजीवन शुल्क-1000.00 रुपया।

युग शक्ति गायत्री (गुजराती मासिक)

(गायत्री महाविज्ञान, धर्म, अध्यात्म एवं युगानुकूल विचार परिवर्तन का मार्गदर्शन)

वार्षिक शुल्क-85.00, आजीवन शुल्क-1800.00 रुपया।

पता : युग निर्माण योजना विस्तार ट्र र्म, अध्यात्म ... -3

फोन : (0565) 2530128

फैक्स : (0565) 2530200 -85.00, आजीवन शुल्क-1800.00

विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि

(३) प्रज्ञा अभियान (पाक्षिक) 530128, 2530

(युग निर्माण मिशन के क्रियाकलापों एवं मार्ग 530200 00, आजीवन

वार्षिक शुल्क-30.00 रुपया। **विस्तार ट्र** र्म

पाक्षिक वीडियो पत्रिका : युग प्रवाह

(युग निर्माण मिशन के प्रमुख क्रियाकलापों की दृश्य-श्रव्य जानकारी)

वार्षिक शुल्क-1500.00 रुपया।

पता : शांतिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तराखंड) फोन : 01334-260602

SS 01

12/-